श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ जयतः

रागवर्त्म–चन्द्रिका

श्रीश्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर विरचित

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति एवं तदन्तर्गत भारतव्यापी
श्रीगौड़ीय मठोंके प्रतिष्ठाता, श्रीकृष्णचैतन्याम्नाय
दशमाधस्तनवर श्रीगौड़ीयाचार्य केशरी
नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्री

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके
अनुगृहीत

त्रिदण्डिस्वामी
श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज
द्वारा अनुवादित एवं सम्पादित

गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

प्रकाशक—श्रीमान् प्रेमानन्द ब्रह्मचारी 'सेवारत्न'

द्वितीय संस्करण—५००० प्रतियाँ
ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ठाकुर 'प्रभुपाद' की आविर्भाव तिथि
१४ फरवरी २००९, ५२२ चैतन्याब्द

प्राप्ति स्थान

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
मथुरा (उ॰ प्र॰)
०५६५-२५०२३३४

श्रीरूप-सनातन गौड़ीय मठ
दानगली, वृन्दावन (उ॰ प्र॰)
०५६५-२४४३२७०

श्रीरमणबिहारी गौड़ीय मठ
बी-३, जनकपुरी, नई दिल्ली
०११-२५५३३५६८

श्रीगिरिधारी गौड़ीयमठ
राधाकुण्ड रोड,
गोवर्धन (उ॰ प्र॰)
०५६५-२८१५६६८

खण्डेलवाल एण्ड सन्स
अठखम्भा बाजार,
वृन्दावन (उ॰ प्र॰)
०५६५-२४४३१०१

प्रस्तावना

परमाराध्य नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी अशेष अनुकम्पा एवं प्रेरणासे आज 'रागवर्त्म-चन्द्रिका' का हिन्दी संस्करण प्रकाशित होते देख मुझे अपार प्रसन्नता हो रही है। महामहोपाध्याय श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इस ग्रन्थके रचयिता हैं। यह ग्रन्थ आकारमें क्षुद्र होनेपर भी विषय-वैभवकी दृष्टिसे महान है।

श्रीपादविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने श्रीभक्तिरसामृत-सिन्धुबिन्दुमें रागानुगा भक्तिमार्गका संक्षेपमें वर्णन किया है। उसीका विस्तृत वर्णन इस ग्रन्थमें उपलब्ध है। इसमें दो प्रकाश हैं। प्रथम प्रकाशमें वैधी और रागानुगा मार्गका निर्णय, वैधीमें शास्त्र-शासनकी अपेक्षा और रागानुगामें लोभ ही प्रर्वत्तक होता है। लोभ उत्पन्न होनेपर भी शास्त्रयुक्तिकी अपेक्षा—लोभ प्रवर्त्तित विधिमार्गसे सेवा ही रागमार्ग है तथा विधिप्रवर्त्तित विधिमार्गकी सेवा ही विधिमार्ग है, विधिशून्य सेवा उत्पातका कारण है। रागानुगा भजनके पञ्च अङ्ग—(१) स्वाभीष्टभावमय (दास्यसख्यादि), (२) भावसम्बन्धी (नाम, रूप, गुण, लीला आदिका श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण आदि तथा एकादशी, जन्माष्टमी प्रभृति व्रत एवं भागवत श्रवणादि), (३) भावानुकूल (तुलसी काष्ठमाला, तिलक, नाममुद्रा और चरणचिह्न आदिका धारण), (४) भावाविरुद्ध (गो, पीपल, आँवला और ब्राह्मणादिकी सेवा विशेषतः वैष्णवसेवा),

(५) भावविरुद्ध (अहंग्रहोपासना, न्यास, मुद्रा, द्वारकाध्यान एवं महिषी ध्यान) आदि विषयोंका वर्णन है।

द्वितीय प्रकाशमें श्रीकृष्णके ऐश्वर्य और माधुर्य सम्बन्धमें विचार-महैश्वर्यके प्रकाश अथवा अप्रकाशमें यदि नरलीलाके अनुरूप भाव रहे, तो उसे माधुर्य कहते हैं और नरलीलाको अतिक्रम कर केवल ऐश्वर्य स्फूर्ति ही ऐश्वर्य है। भक्तजननिष्ठ ऐश्वर्यज्ञान, ईश्वरबुद्धि रहनेपर भी भयभीत न होकर अपने भावकी अति दृढ़ता रहनेपर—उसे माधुर्यज्ञान कहते हैं। कृष्णकी सर्वज्ञता तथा मौग्धता आदिका विचार, स्वकीया और परकीया तत्त्व, रागानुगीय भक्तोंके प्रेम-भूमिकामें आरोहणके पश्चात् साक्षात्रूपमें स्वाभीष्ट वस्तु प्राप्तिके प्रकार तथा योगमायाके कर्त्तृत्व आदिका वर्णन किया गया है।

श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरका जीवन-चरित्र

श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर नदीया जिलेमें राढ़ीय श्रेणी विप्रकुलमें आविर्भूत हुए थे। ये हरिवल्लभके नामसे भी प्रसिद्ध थे। रामभद्र और रघुनाथ नामक इनके दो बड़े भाई थे। बाल्यकालमें देवग्राम-नामक एक ग्राममें व्याकरण पाठ समाप्त कर मुर्शिदाबाद जिलेके शैयदाबाद नामक ग्राममें (गुरुगृह) भक्ति-शास्त्रका अध्ययन किया। इन्होंने बिन्दु-किरण-कणा इन तीनों ग्रन्थोंकी रचना इस शैयदाबाद ग्राममें अध्ययन करते समय ही की थी। कुछ दिनों बाद वे गृहत्याग कर वृन्दावन चले आये। यहींपर उन्होंने विभिन्न ग्रन्थोंकी रचनाएँ व टीकाएँ लिखीं।

श्रीमन् महाप्रभु तथा व्रजवासियोंके अप्रकट होनेपर शुद्धभक्तिधारा श्रीनिवासाचार्य, नरोत्तम ठाकुर और श्यामानन्द—तीनों प्रभुओंके माध्यमसे प्रवाहित हो रही थी। श्रील नरोत्तम ठाकुरकी शिष्य परम्परामें श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर चतुर्थ-पुरुष हैं। श्रीलनरोत्तम ठाकुर महाशयके शिष्यका नाम श्रीगङ्गानारायण चक्रवर्ती महाशय था। ये मुर्शिदाबाद जिलेके अन्तर्गत बालूचर गम्भिलामें रहते थे। इन्हें कोई पुत्र न था, केवलमात्र एक कन्या थी, जिसका नाम विष्णुप्रिया था। श्रीलनरोत्तम ठाकुरके एक वारेन्द्र श्रेणीके दूसरे शिष्य भी थे, जिनका नाम रामकृष्ण भट्टाचार्य था। इन रामकृष्ण भट्टाचार्यके कनिष्ठ पुत्रका नाम कृष्णचरण था। इन कृष्णचरणको श्रीगङ्गानारायणने दत्तकपुत्रके रूपमें ग्रहण किया। श्रीकृष्णचरणके शिष्य राधारमण चक्रवर्ती थे और ये श्रीराधारमण ही विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरके श्रीगुरुदेव हैं। रासपञ्चाध्यायकी सारार्थ-दर्शिनी टीकाके प्रारम्भमें इन्होंने ऐसा लिखा है—

श्रीरामकृष्णगङ्गाचरणान् नत्वा गुरुनुरुप्रेम्नः।
श्रीलनरोत्तमनाथ श्रीगौराङ्गप्रभुं नौमि॥

अर्थात् इस श्लोकमें श्रीरामसे उनके गुरुदेव श्रीराधारमण, कृष्णसे परमगुरुदेव श्रीकृष्णचरण, गङ्गाचरणसे परात्पर गुरुदेव श्रीगङ्गाचरण, नरोत्तमसे परमपरात्पर गुरुदेव श्रीनरोत्तम ठाकुर और 'नाथ' शब्दसे श्रीनरोत्तम ठाकुरके गुरुदेव श्रीलोकनाथ गोस्वामीको समझना चाहिये। इस प्रकार श्रीमन् महाप्रभु तक अपनी गुरुपरम्पराको प्रणाम कर रहे हैं, ऐसा सूचित होता है।

श्रीनिवासाचार्यकी कन्याका नाम हेमलता ठाकुरानी था, ये परमविदुषी एवं परम-वैष्णवी महिला-भक्त थीं। इन्होंने अपने रूपकविराज नामक एक उदासीन शिष्यको गौड़ीय-समाजसे बहिष्कृत कर दिया था। तबसे वे रूपकविराज गौड़ीय-वैष्णव-समाजमें 'अतिबाड़ी' नामसे परिचित हुए। इन्होंने गौड़ीय-वैष्णवोंके सिद्धान्तके विरुद्ध अपना एक नया मत स्थापन किया कि केवलमात्र त्यागी व्यक्ति ही आचार्यका कार्य कर सकता है। गृहस्थ व्यक्ति भक्तिका आचार्य नहीं हो सकता। विधिमार्गका सम्पूर्ण रूपसे अनादर कर उत्शृङ्खलतापूर्ण रागमार्गका प्रचार करना ही इनका उद्देश्य था। श्रवणकीर्त्तनका त्यागकर केवल स्मरणके द्वारा ही रागानुगाभक्ति सम्भव है—ऐसा इनका नवीन मत था।

सौभाग्यवश श्रीलचक्रवर्ती ठाकुर उस समय वर्त्तमान थे। इन्होंने श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धकी सारार्थ-दर्शिनी टीकामें प्रतिवाद किया। आचार्यवंशमें नित्यानन्द प्रभुके पुत्र वीरभद्र प्रभुके शिष्यवंशमें तथा अद्वैताचार्यके त्यक्त पुत्रोंके वंशमें गृहस्थ होकर गोस्वामी उपाधि प्रदान और ग्रहण करना शिष्यके लिए उचित नहीं है—रूपकविराजके ऐसे विचारका श्रीचक्रवर्ती ठाकुरने प्रतिवाद किया था। उन्होंने आचार्यवंशके योग्य अधस्तन गृहस्थ सन्तानोंके पक्षमें भी आचार्यका कार्य करना असंगत नहीं है, ऐसा प्रमाणित किया था। परन्तु वंश-परम्परा क्रमसे धन और शिष्यके लोभसे आचार्यकुलमें उत्पन्न अयोग्य सन्तानोंके लिए अपने नामके साथ 'गोस्वामी' शब्दका प्रयोग

शाश्वत-शास्त्र विरोधी और नितान्त अवैध कार्य है—ऐसा भी प्रमाणित किया। इसलिए इन्होंने आचार्यका कार्य करनेपर भी अपने नामके साथ 'गोस्वामी' शब्दका प्रयोग कदापि नहीं किया। उन्होंने आधुनिक कालके विचारहीन अयोग्य आचार्य सन्तानोंकी शिक्षाके लिए ही ऐसा किया है।

श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर जिस समय अत्यन्त वृद्ध हो गये थे तथा अधिकांश समय वे अर्धबाह्य और अर्न्तदशामें स्थित होकर भजनमें विभोर रहते थे, उसी समय जयपुरमें श्रीगौड़ीय-वैष्णवों एवं स्वकीयावादी अन्यान्य वैष्णवोंमें एक विवाद छिड़ गया। उस समय द्वितीय जयसिंह जयपुरके नरेश थे। विरुद्धपक्षवाले वैष्णवोंने द्वितीय जयसिंहको यह समझाया कि श्रीगोविन्ददेवके साथ श्रीमती राधिकाजीकी पूजा शास्त्र-सम्मत नहीं है। इसका कारण यह है कि श्रीमद्भागवत या विष्णुपुराणमें श्रीमती राधिकाका नाम कहीं भी उल्लेख नहीं है। श्रीमती राधिकाका वैदिक विधियोंके अनुसार कृष्णकी विवाहित पत्नी नहीं है। दूसरी बात गौड़ीय-वैष्णव साम्प्रदायिक वैष्णव नहीं है। चार ही वैष्णव सम्प्रदाय हैं, जो अनादि कालसे चले आ रहे हैं। उनके नाम हैं—श्रीसम्प्रदाय, ब्रह्मसम्प्रदाय, रुद्रसम्प्रदाय और सनकसम्प्रदाय। कलियुगमें इन सम्प्रदायोंके प्रधान आचार्य क्रमशः श्रीरामानुज, श्रीमध्व, श्रीविष्णुस्वामी और श्रीनिम्बादित्य हैं। गौड़ीय-वैष्णव इनसे बहिर्भूत होनेके कारण वे शुद्ध साम्प्रदायिक वैष्णव नहीं है। विशेषतः इस वैष्णव सम्प्रदायमें अपना कोई ब्रह्मसूत्रका

भाष्य नहीं है। इसे परम्परागत वैष्णव सम्प्रदाय नहीं माना जा सकता है। उसी समय महाराज जयसिंहने श्रीवृन्दावनके प्रधान गौड़ीय वैष्णवाचार्योंको श्रीलरूप गोस्वामीके अनुगत जानकर श्रीरामानुजीय वैष्णवोंके सहित विचार करनेके लिए आह्वान किया। अत्यन्त वृद्ध और भजनानन्दमें विभोर रहनेके कारण इन्होंने अपने छात्र गौड़ीय-वैष्णव-वेदान्ताचार्य, पण्डितकुलमुकुट महामहोपाध्याय श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण और अपने शिष्य श्रीकृष्णदेवको जयपुरमें विचार करनेके लिए भेजा। जाति-गोस्वामीगण अपने मध्वसम्प्रदायके आनुगत्यको भूल चुके थे। साथ ही उन्होंने वैष्णव वेदान्तका अनादर कर गौड़ीय वैष्णवोंके लिए एक महान विपत्तिका आह्वान किया था। श्रील बलदेव विद्याभूषणने अकाट्य युक्तियों और सुदृढ़ शास्त्रीय प्रमाणोंके द्वारा यह प्रमाणित किया कि गौड़ीय सम्प्रदाय मध्वानुगत शुद्ध वैष्णव सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदायका नाम श्रीब्रह्म-माध्व-गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय है। हमारे पूर्वाचार्य श्रीलजीव गोस्वामी, कविकर्णपूर आदिने इसे स्वीकार किया है। श्रीगोड़ीय वैष्णवजन श्रीमद्भागवतको ही वेदान्तसूत्रका अकृत्रिम भाष्य मानते हैं। इसलिए गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायमें स्वतन्त्र रूपसे किसी वेदान्तसूत्रके भाष्यकी रचना नहीं की गयी है। विभिन्न पुराणोंमें श्रीमती राधिकाके नामका उल्लेख है, वे ह्लादिनी स्वरूपा कृष्णकी नित्यप्रिया हैं। श्रीमद्भागवतके विभिन्न स्थलोंमें विशेषतः दसवें स्कन्धके व्रजलीलाके वर्णन प्रसंगमें सर्वत्र ही श्रीमती राधिकाका अत्यन्त गूढ़रूपसे उल्लेख है। सिद्धान्तविद्,

रसिक और भावुक भक्त ही इस गूढ़ रहस्यको समझ सकते हैं। उन्होंने उस विद्वत्सभामें प्रतिपक्षके सभी तर्कों एवं सन्देहोंको खण्ड-विखण्डकर श्रीगौड़ीय वैष्णवोंका मध्वानुगत्य एवं राधागोविन्दकी सेवापूजाकी स्थापना की। विपक्ष निरुत्तर हो गया, फिर भी उन्होंने श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायका कोई वेदान्त भाष्य न होनेसे उन्हें शुद्ध पारम्परिक वैष्णव माननेसे अस्वीकार कर दिया। श्रीबलदेव विद्याभूषणने ब्रह्मसूत्रका 'श्रीगोविन्दभाष्य' नामक सुप्रसिद्ध गौड़ीय भाष्यकी रचना की। अतः पुनः श्रीगोविन्ददेवके मन्दिरमें श्रीराधागोविन्दकी सेवापूजा प्रारम्भ हुई तथा गौड़ीय वैष्णवोंकी श्रीब्रह्म-माध्व-गौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदायके रूपमें मान्यता स्वीकार की गयी। श्रीचक्रवर्ती ठाकुरकी सम्मति क्रमसे ही श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुने श्रीगोविन्दभाष्यकी रचना की तथा गौड़ीय वैष्णवोंका श्रीमध्वानुगत्य प्रमाणित किया। इस विषयमें तनिक भी सन्देहका अवकाश नहीं है। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरका यह साम्प्रदायिक कार्य गौड़ीय वैष्णवोंके इतिहासमें स्वर्णाक्षरसे लिपिबद्ध रहेगा।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरजीने स्वरचित 'मन्त्रार्थ-दीपिका' में एक विशेष घटनाका वर्णन किया है—किसी समय उन्होंने श्रीचैतन्यचरितामृतका पठन-पाठन करते हुए कामगायत्रीके अर्थसे सम्बन्धित निम्नलिखित पयारोंपर विचार किया—

काम-गायत्री मन्त्ररूप, हय कृष्णेर स्वरूप,
सार्द्धचब्बिश अक्षर तार हय।

से अक्षर चन्द्र हय कृष्णे करि उदय
त्रिजगत् कैल काममय॥

अर्थात् कामगायत्री श्रीकृष्णका स्वरूप है। इस मन्त्रराजमें साढ़े चौबीस अक्षर हैं, इस मन्त्रका प्रत्येक अक्षर पूर्ण चन्द्र है। ये चन्द्रसमूह कृष्णको उदित कराकर त्रिजगत्को प्रेममय बना देते हैं।

इन पद्योंके प्रमाणसे कामगायत्रीमें साढ़े चौबीस अक्षर हैं, किन्तु श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती कामगायत्रीमें कौन-सा अर्द्धाक्षर है, बहुत चिन्ता करनेपर भी न समझ सके। व्याकरण, पुराण, तन्त्र, नाट्य एवं अलङ्कार आदि शास्त्रोंमें विशेषरूपसे छानबीन करनेपर भी उन्हें कहीं भी अर्द्धाक्षरका उल्लेख नहीं प्राप्त हुआ। उन सभी शास्त्रोंमें स्वर और व्यंजनके भेदसे उन्हें पचास अक्षरोंका ही उल्लेख मिला, किन्तु कहीं भी अर्द्धाक्षरका कोई प्रमाण नहीं मिला। श्रील जीव गोस्वामी द्वारा रचित श्रीहरिनामामृत व्याकरणके संज्ञा पादमें स्वर-व्यंजनके प्रसंगमें पचास अक्षरोंका ही उल्लेख देखा। मातृकान्यास आदिमें भी मातृका रूपके ध्यानमें कहीं भी अर्द्धाक्षरका उल्लेख उन्हें नहीं मिला। बृहन्नादरीय पुराणमें राधिकाके सहस्र-नाम-स्तोत्रमें वृन्दावनेश्वरी श्रीमती राधिकाजीको पचास वर्णरूपिणी कहा गया है। उसे देखकर उनका सन्देह और भी बढ़ गया, उन्होंने ऐसा सोचा कि क्या कविराज गोस्वामीने भ्रमवशतः ऐसा लिखा है? किन्तु उनमें भ्रम होनेकी सम्भावना नहीं, वे भ्रम प्रमादादि दोषोंसे सर्वथा रहित

सर्वज्ञ हैं। यदि उक्त मन्त्रमें खण्ड त् को अर्धाक्षर मानते हैं तो कृष्णदास कविराज गोस्वामी क्रमभङ्गके दोषसे दोषी ठहरते हैं क्योंकि उन्होंने ऐसा वर्णन किया है—

सखि हे! कृष्णमुख द्विजराजराज।
कृष्णवपु सिंहासने, वसि राज्य शासने
करे सङ्गे चन्द्रेर समाज॥

दुइ गण्ड सुचिक्कण, जिनि मणि सुदर्पण,
सेइ दुइ पूर्णचन्द्र जानि।
ललाट अष्टमी-इन्दु ताहाते चन्दन-बिन्दु
सेइ एक पूर्णचन्द्र मानि॥

कर नख चाँदेर हाट वंशीर उपर करे नाट
तार गीत मुरलीर तान।
पद नख चन्द्रगण तले करे सुनर्त्तन
यार ध्वनि नूपुरेर गान॥

श्रीकृष्णदास कविराजगोस्वामीने उक्त पंक्तियोंमें श्रीकृष्णचन्द्रके मुखारविन्दको पहला एक चन्द्र बतलाया है, तत्पश्चात् उनके दोनों गालोंको एक-एक पूर्णचन्द्र माना है, ललाटके ऊपरी भागमें चन्दनबिन्दुको चौथा पूर्णचन्द्र माना है तथा चन्दनबिन्दुके नीचे ललाट प्रदेशको अष्टमीका चन्द्र अर्थात् अर्द्धचन्द्र बतलाया है। इस वर्णनके अनुसार पंचम अक्षर ही अर्द्धाक्षर होता है, किन्तु खण्ड त् को अर्द्धाक्षर माननसे अन्तिम अक्षर ही अर्द्धाक्षर होता है, पञ्चम अक्षर अर्द्धाक्षर नहीं हो पाता।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरजी अर्द्धाक्षरका निर्णय न कर सकनेके कारण बड़ी द्विविधामें फंस गये। उन्होंने विचार किया यदि मन्त्राक्षरकी स्फूर्ति तो न हो मन्त्रदेवताकी स्फूर्ति होना असम्भव है। अतएव उपास्य देवताका दर्शन न होनेसे मर जाना ही अच्छा है, ऐसा सोचकर देहत्याग करनेकी अभिलाषासे रातमें राधाकुण्डके तटपर उपस्थित हुए। रात्रिका द्वितीय प्रहर अतीत होनेपर अकस्मात् तन्द्राकी स्थितिमें श्रीवृषभानुनन्दिनीका दर्शन किया। उन्होंने बड़े स्नेहसे कहा—हे विश्वनाथ! हे हरिवल्लभ! खेद मत करो, श्रीकृष्णदास कविराजने जो कुछ लिखा है वह परम सत्य है। मेरे अनुग्रहसे वे मेरे अन्तःकरणकी सभी भावनाओंको जानते हैं। उनके वचनोंमें तनिक भी सन्देह मत करना। कामगायत्री ही मेरे और मेरे प्राणवल्लभकी उपासनाका मन्त्र है। हमलोग मन्त्राक्षरके द्वारा भक्तोंके निकट प्रकाशित होते हैं। मेरे अनुग्रहके बिना हमलोगोंको कोई भी जाननेमें समर्थ नहीं है। 'वर्णागमभास्वत' नामक ग्रन्थमें अर्द्धाक्षरका निरुपण किया गया है, उसे देखकर ही श्रीकृष्णदास कविराजने कामगायत्रीका स्वरूप निर्णय किया है। तुम इसे देखकर श्रद्धालुजनोंके उपकारके लिए प्रकाशित करो।

स्वयं वृषभानुनन्दिनी श्रीमती राधिकाके इस आदेशका श्रवणकर विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर जग उठे। और "हा राधे! हा राधे!" कहकर विलाप करने लगे। अनन्तर धैर्य धारणकर उनकी आज्ञा पालनमें तत्पर हो गये। श्रीमती राधिकाजीने अर्द्धाक्षर निर्णय करनेके विषयमें जो इङ्गित

दिया था, उसके अनुसार उक्त मन्त्रमें 'वि' के पूर्व जो 'य' है, वही अर्द्धाक्षर है। उसके अतिरिक्त अन्य सभी अक्षर पूर्णाक्षर या पूर्णचन्द्र हैं।

श्रीमती राधिकाजीकी कृपासे मन्त्रका अर्थ अवगत होकर श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने अपने इष्टदेवका साक्षात दर्शन किया तथा सिद्धदेहके द्वारा नित्यलीलामें परिकरभुक्त हुए। इसके पश्चात् उन्होंने राधाकृण्डके तटपर श्रीगोकुलानन्द नामक श्रीविग्रहकी प्रतिष्ठा की तथा वहीं रहते समय श्रीवृन्दावनकी नित्यलीलाओंका माधुर्य अनुभवकर श्रीलकविकर्णपूर द्वारा रचित आनन्दवृन्दावन-चम्पूकी सुखवर्त्तिनी नामक टीकाकी रचना की।

राधापरस्तीरकुटीरवर्त्तिनः प्राप्तव्यवृन्दावन चक्रवर्त्तिनः।
आनन्दचम्पू विवृतिप्रवर्त्तिनः सान्तो-गतिर्म्मे सुमहानिवर्त्तिनः॥

परिणतवयसमें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर अन्तर्दशा और अर्द्धाबाह्य दशामें रहकर भजन करनेमें ही अपना अधिकांश समय व्यतीत करने लगे। उनके प्रधान शिष्य बलदेव विद्याभूषण ही उनके बदलेमें शास्त्र-अध्यापनका कार्य करने लगे।

परकीयावादकी पुनःस्थापना

श्रीधाम वृन्दावनमें षड़गोस्वामियोंका प्रभाव किञ्चित् क्षीण होनेपर स्वकीय-परकीयावादका मतभेद उठ खड़ा हुआ। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने स्वकीयावादके भ्रमको दूर करनेके लिए सुसिद्धान्तपूर्ण 'रागवर्त्मचन्द्रिका'

तथा 'गोपीप्रेमामृत' नामक ग्रन्थोंकी रचनाएँ की। तत्पश्चात् उन्होंने उज्ज्वलनीलमणिकी 'लघुत्वमत्र' (१/२१) श्लोककी आनन्दचन्द्रिका टीकामें शास्त्रीय प्रमाणों और अकाट्य युक्तियोंके द्वारा स्वकीयावादका खण्डनकर परकीया विचारकी स्थापना की है। श्रीमद्भागवतकी सारार्थदर्शिनी टीकामें भी उन्होंने परकीया भावकी पुष्टि की है।

ऐसा कहा जाता है कि श्रीलचक्रवर्तीके समय कुछ पण्डितोंने परकीया उपासनाके विषयमें श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरका विरोध किया, किन्तु चक्रवर्ती ठाकुरजीने अपनी प्रगाढ़ विद्वता तथा अकाट्य युक्तियोंके द्वारा उन्हें परास्त कर दिया। इससे पण्डितोंने उन्हें जानसे मारनेका सङ्कल्प किया। प्रभातकालीन अन्धकारमें श्रीधाम वृन्दावनकी परिक्रमा करते समय श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरको किसी सघन अन्धकारपूर्ण कुञ्जमें जानसे मार डालनेकी योजना बनायी गयी। विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरके परिक्रमा करते-करते उक्त सघन कुञ्जोंके समीप पहुँचनेपर वहाँ विरोधियोंने विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरको मारना चाहा, किन्तु अकस्मात् देखा विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर वहाँ नहीं थे। अपितु उनके स्थानपर एक सुन्दर व्रजबालिकाको अपनी दो-तीन सहेलियोंके साथ पुष्पचयन करते हुए देखा। पण्डितोंने उस बालिकासे पुछा—लाली! अभी-अभी एक महात्मा इधर आ रहे थे, वे किधर गये? क्या तुमने उन्हें देखा है? बालिकाने उत्तर दिया—"देखा तो था, किन्तु किधर गये मुझे मालुम नहीं।" बालिकाके अद्भुत रूप-सौन्दर्य, कटाक्ष, भावभङ्गी और मन्द-मुसकान

देख करके पण्डित समाज मुग्ध हो गया। उनके मनका सारा कल्मष दूर हो गया और उनका हृदय द्रवित हो गया। पण्डितोंके द्वारा परिचय पूछे जानेपर बालिकाने कहा, "मैं स्वामिनी श्रीमती राधिकाकी सहचरी हूँ। वे इस समय अपनी ससुराल यावटमें विराजमान हैं। उन्होंने मुझे पुष्पचयन करनेके लिए भेजा है।" ऐसा कहते-कहते वे अन्तर्धान हो गयीं और उसके स्थानपर श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरको पुनः देखा। पण्डितोंने श्रील चक्रवर्ती ठाकुरजीके चरणोंमें गिरकर क्षमा प्रार्थना की, चक्रवर्ती ठाकुरजीने उन्हें क्षमा कर दिया। श्रीलचक्रवर्तीचरणके जीवनमें ऐसी-ऐसी ही आश्चर्यपूर्ण बातें सुनी जाती हैं। इस प्रकार इन्होंने स्वकीयावादका खण्डनकर शुद्ध परकीया तत्त्वकी स्थापना की। इनका यह कार्य गौड़ीय वैष्णवोंके लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने जिस प्रकारसे श्रीगौड़ीय वैष्णव धर्मकी मर्यादाकी रक्षा कर पुनः श्रीवृन्दावनमें श्रीगौड़ीय-वैष्णव धर्मका प्रभाव स्थापित किया है उसका विवेचन करनेसे उनकी अलौकिक प्रतिभासे विस्मित होना पड़ता है। उनके इस असाधारण कार्यके लिए ही श्रीगौड़ीय वैष्णवाचार्योंने एक श्लोक लिखा है—

विश्वस्य नाथरूपोऽसौ भक्तिवर्त्मप्रदर्शनात्।
भक्तचक्रे वर्त्तितत्वात् चक्रवर्त्त्याख्ययाभवत्॥

अर्थात् भक्तिपथके प्रदर्शक होनेके कारण विश्वके नाथ अर्थात् विश्वनाथ तथा शुद्धभक्तचक्र (भक्तमण्डली) में सदा अवस्थित रहनेके कारण चक्रवर्ती अर्थात् विश्वनाथ चक्रवर्ती नाम हुआ है।

वे लगभग १६७६ शकाब्दमें लगभग एकसौ वर्षकी आयुमें माघी शुक्ला पञ्चमी तिथिमें श्रीराधाकुण्डमें अन्तर्दशाकी अवस्थामें श्रीवृन्दावनमें अप्रकट हुए। आज भी, श्रीधाम वृन्दावनमें श्रीगोकुलानन्द मन्दिरके निकट उनकी समाधि विद्यमान है।

इन्होंने श्रीलरूपगोस्वामीका पदाङ्क अनुसरणकर विपुल अप्राकृत भक्तिसाहित्यका सृजनकर विश्वमें श्रीमन् महाप्रभुका मनोऽभीष्ट स्थापन किया है। साथ ही उन्होंने श्रीरूपानुग विरुद्ध कुसिद्धान्तोंका खण्डन भी किया है। इस प्रकार गौड़ीय वैष्णव जगत्में ये परमोज्ज्वल आचार्य एवं प्रामाणिक महाजनके रूपमें ही प्रपूजित हुए हैं। ये अप्राकृत महादार्शनिक, अप्राकृत कवि और अप्राकृत रसिक भक्त तीनों रूपोंमें ही विख्यात हैं। कृष्णदास नामक एक वैष्णव पदकर्त्ताने श्रील चक्रवर्ती ठाकुर द्वारा रचित माधुर्यकादम्बिनीके पद्यानुवादके उपसंहारमें लिखा है—

माधुर्यकादम्बिनी-ग्रन्थ जगत कैल धन्य।
चक्रवर्ति-मुखे वक्ता आपनि श्रीकृष्णचैतन्य॥

केह कहेन-चक्रवर्ती श्रीरूपेर अवतार।
कठिन ये तत्त्व सरल करिते प्रचार॥

ओहे गुणनिधि श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती।
कि जानिव तोमार गुण मुञि मूढ़मति॥

अर्थात् श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने माधुर्यकादम्बिनी ग्रन्थकी रचनाकर समग्र जगत्को धन्य बना दिया। वास्तवमें श्रीकृष्णचैतन्य प्रभु ही इस ग्रन्थके वक्ता हैं, वे ही श्रीचक्रवर्तीके मुखसे बोल रहे हैं। कुछ लोगोंका कहना है श्रीचक्रवर्ती ठाकुर श्रीलरूपगोस्वामीके अवतार हैं। वे अत्यन्त सुकठिन तत्त्वोंको अत्यन्त सरल रूपमें वर्णन करनेकी कलामें अत्यन्त प्रवीण हैं। अहो! दयाके सागर श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरजी! मैं अतिशय मूढ़ व्यक्ति हूँ। आप कृपाकर इन अप्राकृत गुणोंको मेरे हृदयमें स्फूरित करावें—श्रीचरणोंमें ऐसी प्रार्थना है।

गौड़ीय वैष्णवाचार्योंमें श्रीलचक्रवर्ती ठाकुरकी भाँति अनेकानेक ग्रन्थोंके लेखक बहुत कम ही आविर्भूत हुए हैं। अभी भी साधारण वैष्णव समाजमें श्रीलचक्रवर्ती ठाकुरके तीन ग्रन्थोंके सम्बन्धमें एक प्रवाद सुप्रचलित है—"किरण-बिन्दु-कणा, एह तीन निये वैष्णवपना॥"

इन्होंने गौड़ीय वैष्णव भक्तिसाहित्य भण्डारकी अतुल-सम्पद्-स्वरूप जिन ग्रन्थों, टीकाओं, स्तवों आदिकी रचनाएँ की हैं, नीचे उनकी तालिका प्रस्तुत की जा रही है।

(१) व्रजरीतिचिन्तामणि, (२) चमत्कारचन्द्रिका, (३) प्रेमसम्पुटम् (खण्डकाव्यम्), (४) गीतावली, (५) सुबोधिनी (अलङ्कार-कौस्तुभ टीका), (६) आनन्द-चन्द्रिका (उज्ज्वल-

नीलमणि टीका), (७) श्रीगोपालतापनी टीका, (८) स्तवामृतलहरी धृत—(क) श्रीगुरुतत्त्वाष्टकम्, (ख) मन्त्रदातृगुरोरष्टकम्, (ग) परमगुरोरष्टकम्, (घ) परात्पर-गुरोरष्टकम्, (ङ) परमपरात्पर गुरोरष्टकम्, (च) श्रीलोक-नाथाष्टकम्, (छ) श्रीशचीनन्दनाष्टकम्, (ज) श्रीस्वरूपचरितामृतम्, (झ) श्रीस्वप्नविलासामृतम्, (ञ) श्रीगोपालदेवाष्टकम्, (ट) श्रीमदनमोहनाष्टकम्, (ठ) श्रीगोविन्दाष्टकम्, (ड) श्रीगोपी-नाथाष्टकम्, (ढ) श्रीगोकुलानन्दाष्टकम्, (ण) स्वयंभगवदष्टकम्, (त) श्रीराधाकुण्डाष्टकम्, (थ) जगन्मोहनाष्टकम्, (द) अनुरागवल्ली, (ध) श्रीवृन्दादेव्याष्टकम्, (न) श्रीराधिकाध्यानामृतम्, (प) श्रीरूपचिन्तामणि, (फ) श्रीनन्दीश्वराष्टकम्, (व) श्रीवृन्दवनाष्टकम्, (भ) श्रीगोवर्धनाष्टकम्, (म) श्रीसङ्कल्प-कल्पद्रुमः, (य) श्रीनिकुञ्जविरुदावली (विरुत्काव्य), (र) सुरतकथामृतम् (आर्यशतकम्), (ल) श्रीश्यामकुण्डाष्टकम्। (९) श्रीकृष्णभावनामृतम् महाकाव्यम्, (१०) श्रीभागवतामृत-कणा, (११) श्रीउज्ज्वलनीलमणि-किरणः, (१२) श्रीभक्ति-रसामृतसिन्धु-बिन्दुः, (१३) रागवर्त्म-चन्द्रिका, (१४) ऐश्वर्यकादम्बिनी (अप्राप्या), (१५) श्रीमाधुर्यकादम्बिनी, (१६) श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु टीका, (१७) श्रीउज्ज्वलनीलमणि टीका, (१८) दानकेलिकौमुदी टीका, (१९) श्रीललितमाधव नाटक टीका, (२०) श्रीचैतन्यचरितामृत टीका (असम्पूर्ण), (२१) ब्रह्मसंहिता टीका, (२२) श्रीमद्भगतद्गीताकी 'सारार्थ-

वर्षिणी' टीका, तथा (२३) श्रीमद्भागवतकी 'सारार्थदर्शिनी' टीका।

श्रीगौड़ीय-सम्प्रदायैक-संरक्षक, श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति तथा समितिके अन्तर्गत श्रीगौड़ीयमठोंके प्रतिष्ठाता आचार्य-केशरी मदीय परमाराध्य श्रीगुरुदेव अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजने स्वरचित ग्रन्थोंके अतिरिक्त श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर आदि पूर्वाचार्योंके ग्रन्थोंका बंगला भाषामें पुनः प्रकाशन किया है। उनकी हार्दिक अभिलाषा, उत्साहदान और अहैतुकी कृपासे आज राष्ट्रीय हिन्दी भाषामें जैवधर्म, श्रीचैतन्य-शिक्षामृत, श्रीचैतन्यमहाप्रभुकी शिक्षा, श्रीशिक्षाष्टक आदि ग्रन्थोंके हिन्दी-संस्करण प्रकाशित हुए हैं तथा क्रमशः प्रकाशित हो रहे हैं।

श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके वर्त्तमान सभापति एवं आचार्य मेरे परमपूज्य सतीर्थवर परिव्राजकाचार्यवर्य श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन महाराज एक परम पराविद्यानुरागी एवं श्रीगुरुपादपद्मके अन्तरङ्ग प्रिय सेवक हैं। वे मेरे प्रति अनुग्रहपूर्वक श्रीश्रीलगुरुदेवके श्रीकरकमलोंमें उनके इस प्रिय 'रागवर्त्म-चन्द्रिका' ग्रन्थको समर्पणकर उनका मनोऽभीष्ट पूर्ण करें—यही उनके श्रीचरणोंमें विनीत प्रार्थना है।

इन ग्रन्थकी प्रतिलिपि प्रस्तुत करने प्रुफ-संशोधन आदि विविध सेवाकार्योंके लिए श्रीओमप्रकाश ब्रजवासी साहित्यरत्न, श्रीमान शुभानन्द ब्रह्मचारी, श्रीमान प्रेमानन्द ब्रह्मचारी, श्रीमान नवीन कृष्ण ब्रह्मचारी, श्रीमान सूर्यकान्त ब्रह्मचारी और श्रीमान अनङ्गमोहन ब्रह्मचारी आदिकी सेवा-प्रवेष्टा सराहनीय एवं विशेष उल्लेखनीय है।

श्रीश्रीगुरुगौराङ्ग-गान्धर्वा-गिरिधारी इन पर प्रचुर कृपा आशीर्वाद करें, उनके चरणोंमें यही प्रार्थना है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि भक्ति-पिपासु, विशेषतः व्रजरसके प्रति लुब्ध रागानुगाभक्तिके साधकजनोंमें इस ग्रन्थका समादर होगा और श्रद्धालुजन इस ग्रन्थका पाठकर श्रीचैतन्यमहाप्रभुके प्रेमधनमें प्रवेशाधिकार प्राप्त करेंगे।

अन्तमें भगवत्करुणाके घनविग्रह परमाराध्य श्रीश्रील गुरुपादपद्म हमारे प्रति प्रचुर कृपावारि वर्षण करें, जिससे हम उनकी मनोऽभीष्ट सेवामें अधिकाधिक अधिकार प्राप्त करें—यही उनके श्रीकृष्णप्रेम प्रदानकारी श्रीचरणोंमें सकातर प्रार्थना है।

अलमतिविस्तरेण।

अक्षय तृतीया — श्रीहरि-गुरु-वैष्णव कृपालेशप्रार्थी
५०७ गौराब्द — दीनहीन
(१९१५ भारतीयाब्द) — त्रिदण्डिभिक्षु
२५ अप्रेल, १९९३ ई॰ — श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण

श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः

श्रीरागवर्त्म-चन्द्रिका

प्रथमः प्रकाशः

श्रीरूपवाक्सुधास्वादिचकोरेभ्यो नमोनमः।
येषां कृपालवैर्वक्ष्ये रागवर्त्मनि चन्द्रिकाम्॥ १॥

अनुवाद—श्रीरूपगोस्वामीपादकी वचन सुधाका रसास्वादन करनेवाले उन भक्तचकोरवृन्दको पुनः-पुनः नमस्कार करता हूँ, जिनकी लेशमात्र कृपाकटाक्षका अवलम्बन कर, मैंने रागमार्गकी चन्द्रिकास्वरूप इस ग्रन्थका आरम्भ किया है॥ १॥

श्रीचन्द्रिका-चकोर-वृत्ति

नमः ॐ विष्णुपादाय कृष्ण-प्रेष्ठाय भूतले।
श्रीश्रीमद्भक्ति प्रज्ञान-केशव इति नामिने॥
अतिमर्त्य-चरित्राय स्वाश्रितानाञ्च-पालिने।
जीव-दुःखे सदार्त्ताय श्रीनाम-प्रेम-दायिने॥
श्रीचैतन्यमनोऽभीष्टं स्थापितं येन भूतले।
स्वयं रूपः कदा मह्यं ददाति स्वपदान्तिकम्॥
वैराग्ययुग भक्तिरसं प्रयत्नैरपाययन्मनभीप्सुमन्धम्।
कृपाम्बुधिर्यः परदुःखदुःखी सनातनं तं प्रभुमाश्रयामि॥

वांछा-कल्पतरुभश्च कृपासिन्धुभ्य एव च।
पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः॥

नमो महावदान्याय कृष्ण-प्रेम-प्रदाय ते।
कृष्णाय कृष्ण-चैतन्य-नाम्ने गौरत्विषे नमः॥

सर्वप्रथम यह दीन-हीन जन परमाराध्य नित्यलीला प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज, श्रीरूपानुग रसिक चूड़ामणि श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर, श्रीमन् महाप्रभुके मनोऽभीष्ट श्रीकृष्णप्रेमकी स्थापना करनेवाले, सपरिकर श्रीराधाभावद्युति सुवलित श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु एवं गान्धर्वा-गिरिधारी श्रीश्रीराधाविनोद-विहारी—इन सबके श्रीचरणकमलोंमें पुनः-पुनः प्रणामपूर्वक उनकी अहैतुक कृपाशीर्वादकी प्रार्थना करते हुए श्रीरूपानुगवर महामहोपाध्याय श्रीश्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर द्वारा विरचित 'रागवर्त्म-चन्द्रिका' की 'श्रीचन्द्रिका-चकोर-वृत्ति' आरम्भ कर रहा हूँ।

जगद्वरेण्य श्रीश्रीमद्विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर स्वयं-भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुके नित्य परिकर हैं। इन श्रीमन् महाप्रभुके मनोऽभीष्ट व्रजरसकी स्थापना, प्रचार और प्रसार श्रीलरूप गोस्वामीने किया है। श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर परवर्ती युगके एक प्रधान रूपानुगाचार्य हैं। इन्होंने श्रीलरूप गोस्वामीके श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु, उज्जलनीलमणि, श्रीभागवतामृत आदि ग्रन्थोंकी बड़ी सिद्धान्तपूर्ण एवं रसमयी टीकाएँ की हैं। इन्होंने रागानुगाभक्तोंके विशेष कल्याणके लिए, विशेष

रूपसे अल्पशिक्षित साधकोंके लिए श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुबिन्दुः, श्रीउज्ज्वलनीलमणि-किरणः और श्रीभागवतामृतकणा नामक अल्पायतन-विशिष्ट, किन्तु महामूल्यवान् तीन ग्रन्थरत्नोंको प्रकाश किया है। इन्होंने श्रीरूप गोस्वामीके विचारोंकी सम्पुष्टिके लिए अपनी टीकाओं, समस्त ग्रन्थों और स्तव-स्तुतियोंमें सर्वत्र ही विशुद्ध परकीया भावका उल्लेख किया है। उनके अप्राकृत साहित्यका अवलोकन करनेसे इस बातकी पुष्टि होती है कि वे एक प्रधान रूपानुग-वैष्णव थे। श्रील रूप गोस्वामीके अन्तर्निहित विचारोंका आचरण तथा प्रचार-प्रसार ही उनके जीवनका महान् लक्ष्य था। इसीलिए वे इस ग्रन्थके आरम्भमें श्रीश्रीलरूप गोस्वामीके प्रति विशेष रूपसे आन्तरिक श्रद्धा प्रकाश करते हुए कह रहे हैं कि जो लोग श्रीलरूप गोस्वामीकी रसमयी वाणीरूप सुधाका आस्वादन करते हैं, उन भक्तरूपी चकोरवृन्दोंको पुनः-पुनः प्रणाम करता हूँ। इस ग्रन्थका नाम रागवर्त्म-चन्द्रिका रखा है। इसका एक गूढ़ तात्पर्य यह है कि साधारणतः श्रद्धालुजन वैधीभक्तिके अनुसार भगवदुपासना करते हैं। व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दरके प्रति अनुरागमयी आराधना बड़े-बड़े देवताओं और उच्चकोटिके साधकोंके लिए भी परम दुर्लभ है। लोकपितामह श्रीब्रह्मा, श्रीउद्धव और श्रीनारद जैसे प्रेमीभक्त भी इसके लिए तरसते हैं। अतः यह अनुराग-पथ दुर्लक्ष्य है। कोई-कोई विरले सौभाग्यवान् ही इस पथको देख सकते हैं अथवा इसपर चल सकते हैं। इस पथपर चलनेके लिए जिसको लोभ उत्पन्न हुआ है, ऐसे महानुभावोंके लिए यह ग्रन्थ

'चन्द्रिका' अर्थात् 'चन्द्र-ज्योत्स्ना' के समान है, जिसकी सुस्निग्ध किरणोंके माध्यमसे उस दुर्लक्ष्य पथका सहज ही अनुसन्धानकर उसपर अग्रसर हो सकते हैं॥ १॥

श्रीमद्भक्तिसुधाम्भोधेर्विन्दुर्यः पूर्वदर्शितः।
तत्र रागानुगा भक्तिः संक्षिप्तात्र वितन्यते॥ २॥

अनुवाद—इससे पूर्व जो श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुबिन्दु प्रकाशित हुआ है, उसमें रागानुगा भक्तिका संक्षिप्त रूपमें वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थमें उसी रागानुगा भक्तिका विस्तृत रूपसे वर्णन किया जा रहा है॥ २॥

श्रीचन्द्रिका-चकोर-वृत्ति

यहाँपर राग, रागानुगा और रागात्मिक शब्दोंका तात्पर्य जानना आवश्यक है। श्रील भक्तिविनोद ठाकुर इस विषयमें कहते हैं कि विषयी-पुरुषको स्वाभाविक विषय-संसर्गसे विषयोंके प्रति अनेक आकारोंमें जो अत्यधिक प्रीति होती है, उसे 'राग' कहते हैं। जैसे—सौन्दर्य देखकर आँखें जिस प्रकार अधीर हो उठती हैं, उसी प्रकार यहाँ विषयके प्रति रंजकता रहती है और हृदयमें राग। जब कृष्ण ही उस रागके एकमात्र विषय हो जाते हैं, तब उस रागको 'रागभक्ति' कहते हैं। श्रील रूप गोस्वामीने रागकी परिभाषा इस प्रकार दी है—"इष्टे स्वारसिकी परमाविष्टता रागः" (भ॰ र॰ सि॰ १/२/२७२)—अर्थात् अपनी अभिलषित इष्ट वस्तुके प्रति जो स्वाभाविक परमाविष्टता अर्थात् परमावेशमूलक प्रेममयी तृष्णा होती है, उसे 'राग' कहते हैं। कृष्णभक्ति जब इस रागमयी

अवस्थाको प्राप्त हो जाती है, तब उस भक्तिको 'रागात्मिका भक्ति' कहते हैं। व्रजवासियोंमें ही रागात्मिका भक्ति देखी जाती हैं। संक्षेपमें ऐसा कह सकते हैं कि कृष्णके प्रति प्रेममयी तृष्णाको रागात्मिका भक्ति कहते हैं। इस रागात्मिकाकी अनुगामी भक्तिको रागानुगा भक्ति कहते हैं। दूसरे शब्दोंमें—श्रीकृष्ण एवं उनके भक्तोंकी कृपासे, श्रीकृष्णके प्रियजनोंके समजातीय भाव पानेके लिए जो लोभ होता है, और उस लोभसे ही भक्तिमें प्रवृति होनेपर, उसे रागानुगा भक्ति कहते हैं। यह रागानुगा भक्ति भी दो प्रकारकी होती है—सम्बन्धानुगा और कामानुगा॥ २॥

वैधीभक्ति र्भवेत् शास्त्रं भक्तौ चेत् स्यात् प्रवर्त्तकम्।
रागानुगा स्याच्चेद्भक्तौ लोभ एव प्रवर्त्तकः॥ ३॥

अनुवाद—शास्त्र-शासन ही यदि भक्तिमें प्रवृत्तिका कारण होता है, तो उस भक्तिको वैधीभक्ति कहते हैं। और लोभ ही भक्तिमें प्रवृत्तिका कारण होता है, तब उसे रागानुगा भक्ति कहते हैं॥ ३॥

भक्तौ प्रवृत्तिरत्र स्यात्तचिकीर्षा सुनिश्चया।
शास्त्राल्लोभात्तच्चिकीर्षू स्यातां तदधिकारिणौ॥ ४॥

अनुवाद—भक्तिमें प्रवृत्त होनेका तात्पर्य—भक्ति अङ्गोंके अनुष्ठानमें ऐकान्तिकी इच्छाका होना है। शास्त्र-शासनके भयसे और लोभवश—दो प्रकारसे भक्तिमें प्रवृत्ति हो सकती है। अतः भक्ति-साधनमें दो प्रकारके अधिकारी होते हैं॥ ४॥

तत्र लोभो लक्षितः स्वयं श्रीरूपगोस्वामिचरणैरेव "तत्तद्भावादिमाधुर्ये श्रुते धी र्यदपेक्षते। नात्र शास्त्रं न युक्तिञ्च तल्लोभोत्पत्तिलक्षणम्॥"

व्रजलीलापरिकरस्थशृङ्गारादिभावमाधुर्ये श्रुते धीरिदं मम भूयात् इति लोभोत्पत्तिकाले शास्त्रयुक्त्यपेक्षा न स्यात्, सत्याञ्च तस्यां लोभत्वस्यैवासिद्धेः। नहि केनचित् शास्त्रदृष्टया लोभः क्रियते नापि लोभनीयवस्तु प्राप्तौ स्वस्य योग्यायोग्यत्वविचारः कोऽप्युद्भवति। किन्तु लोभनीयवस्तुनि श्रुते दृष्टे वा स्वत एव लोभ उत्पद्यते॥५॥

अनुवाद—उनमेंसे लोभका लक्षण श्रीलरूप गोस्वामीने स्वयं ही श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुमें प्रकाश किया है—"श्रीकृष्ण और कृष्णके प्रियजनोंके भावादि माधुर्य-परिपाटीका श्रवणकर चित्तवृत्तिमें यदि स्वभावतः कृष्णके प्रियजनों जैसा (समजातीय) भाव पानेकी अपेक्षा होती है, उसमें शास्त्र अथवा युक्तिकी कोई अपेक्षा नहीं होती, तब उसे लोभोत्पत्तिका लक्षण मानना चाहिये।"

व्रजलीलाके परिकरोंमें विद्यमान शृङ्गारादि भावोंके माधुर्यको श्रवणकर "मेरे हृदयमें भी ऐसे भाव उत्पन्न हों" ऐसा लोभ उदय होनेके समय शास्त्र अथवा तदनुकूल शास्त्रयुक्तिकी किसी प्रकार अपेक्षा नहीं रहती। यदि रहती है, तो उसे लोभ नहीं कहा जा सकता। किसीको भी, कभी भी शास्त्र दृष्टिसे लोभ उत्पन्न नहीं होता अथवा लोभनीय वस्तुकी प्राप्तिके विषयमें किसीके भी मनमें अपनी योग्यता अथवा अयोग्यताके सम्बन्धमें कोई भी विचार उपस्थित नहीं होता, परन्तु लोभनीय वस्तुके

विषयमें श्रवण करनेसे अथवा उसके दर्शनमात्रसे स्वतः ही लोभ उत्पन्न हो जाता है॥ ५॥

श्रीचन्द्रिका–चकोर–वृत्ति

इस विषयमें श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर अपने 'जैवधर्म' में लिखते हैं—व्रजवासियोंके परम मधुर भावोंको सुनकर उसमें प्रवेश करनेके लिए बुद्धि, जिसकी अपेक्षा करती है, वही उस लोभके उत्पन्न होनेका लक्षण है। वैधीभक्तिका अधिकारी पुरुष कृष्णकथा सुनकर उसे बुद्धि, शास्त्र और युक्तिकी कसौटी पर कसता है और तीनोंके साथ कृष्णकथाकी संगति बैठनेपर ही वह आगे बढ़ता है, किन्तु रागमार्गमें ऐसी बात नहीं है। इस मार्गमें बुद्धि, शास्त्र और युक्तिकी अपेक्षा नहीं होती। अपेक्षा होती है केवल व्रजवासियोंके भावके प्रति लोभ की। व्रजवासियोंका कृष्णके प्रति कैसा मधुर भाव था? क्या मुझे वैसा ही भाव प्राप्त हो सकता है? कैसे वह प्राप्त हो?—इसके लिए छटपटाहट होती है। ऐसी छटपटाहट या तीव्र लालसा ही उक्त लोभका लक्षण है। इन लक्षणोंके अभावमें रागानुगा भक्तिमें लोभ उत्पन्न नहीं हुआ है, ऐसा समझना चाहिये॥ ५॥

स च भगवत्कृपाहेतुकोऽनुरागिभक्तकृपाहेतुकश्चेति द्विविधः। तत्र भक्तकृपाहेतुको द्विविधः, प्राक्तन आधुनिकश्च। प्राक्तनः पौर्व्व भविकतादृशभक्तकृपोत्थः, आधुनिकः–एतज्जन्मावधि तादृश भक्तकृपोत्थः। आद्ये सति लोभानन्तरं तादृशगुरु–चरणाश्रयणम्। द्वितीये गुरुचरणाश्रयणानन्तरं लोभप्रवृत्तिर्भवति। यदुक्तम्—

"कृष्णतद्भक्तकारुण्यमात्र-लोभैकहेतुका।
पुष्टिमार्गतया कैश्चिदियं रागानुगोच्यते॥"६॥

अनुवाद—ऐसा लोभ भगवत्कृपा और अनुरागी भक्तोंकी कृपासे उदित होनेके कारण दो प्रकारका होता है—भगवत्-प्रसादज और भक्त-प्रसादज। उनमेंसे भगवत्-भक्त कृपासे उत्पन्न लोभ भी दो प्रकारके होते हैं—प्राक्तन (प्राचीन) और आधुनिक। जन्मान्तरीय कृष्णभक्तोंके—श्रीकृष्णके व्रजपरिकरोंके भाव-माधुर्य-अनुरागी भक्तोंकी कृपासे उत्पन्न लोभको प्राक्तन कहते हैं। और वर्त्तमान जन्ममें ही ऐसे भक्तोंकी कृपासे उत्पन्न लोभको आधुनिक कहते हैं। जिनका लोभ पूर्वजन्ममें ही उत्पन्न हो गया है, वे इस जन्ममें लोभस्फूर्तिके अनन्तर वैसे ही रागानुगीय रसिक-भक्तगुरुका चरणाश्रय ग्रहण करेंगे और जो आधुनिक लोभविशिष्ट साधक हैं, उन्हें श्रीगुरुचरणाश्रयके पश्चात् ही लोभकी प्रवृत्ति होती है।

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थमें ऐसा ही कहा गया है—केवल श्रीकृष्ण एवं उनके भक्तोंकी कृपासे उत्पन्न जो लोभ है, उस लोभसे ही भक्तिमें प्रवृत्ति होनेपर उसे रागानुगा भक्ति कहते हैं। कोई-कोई इसे पुष्टिमार्ग भी कहते हैं॥६॥

श्रीचन्द्रिका-चकोर-वृत्ति

पुष्टिमार्ग—श्रीवल्लभ-सम्प्रदायमें रागानुगा भक्तिको पुष्टिमार्ग कहते हैं तथा वैधीभक्तिको मर्यादामार्ग कहते हैं। श्रीवल्लभाचार्य श्रीचैतन्य महाप्रभुके समसामयिक पुष्टिमार्गके प्रवर्त्तकाचार्य हैं। ये श्रीचैतन्य महाप्रभुसे दो

बार मिले थे। पहली बार जब श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीवृन्दावन धामका दर्शनकर लौट रहे थे, तब श्रीरूप गोस्वामीको शिक्षा देनेके लिए कुछ दिनों तक प्रयागमें ठहरे थे। उसी समय वृद्ध वल्लभाचार्यजी श्रीमन् महाप्रभुको यमुना पार अपने वासस्थान अढैल ग्राम ले गये थे। दूसरी बार पुरी धाममें जिस समय श्रीमन् महाप्रभु, श्रीनित्यानन्द प्रभु, श्रीअद्वैताचार्य प्रभु, श्रीगदाधर पण्डित, श्रीस्वरूप दामोदर, श्रीरायरामानन्द प्रभृति अपने परिकरोंके साथ बैठकर युगलरसके विषयमें वार्त्तालाप कर रहे थे, उस समय श्रीवल्लभाचार्य उनसे मिले थे। ये एक दिग्विजयी वैष्णवाचार्य थे। श्रीमद्भागवत पर इनकी सुबोधिनी नामक टीका प्रसिद्ध है। इस सम्प्रदायमें वात्सल्य भावसे बालगोपालकी सेवा प्रसिद्ध है। इनका नाथद्वारा धाम भी प्रसिद्ध है॥ ६॥

ततश्च तादृशलोभवतो भक्तस्य लोभनीयतद्भावप्राप्त्युपाय-जिज्ञासायां सत्यां शास्त्रयुक्त्यपेक्षा स्यात्। शास्त्रविधिनैव शास्त्रप्रतिपादितयुक्त्यैव च तत्प्रदर्शनात्, नान्यथा। यथा दुग्धादिषु लोभे सति कथं मे दुग्धादिकं भवेदिति तदुपायजिज्ञासायां तदभिज्ञाप्तजनकृतोपदेशवाक्यापेक्षा स्यात्। ततश्च गाः क्रीणातु भवान् इत्यादितदुपदेशवाक्यादेव गवानयनतद घासप्रदानतद्दोहनप्रकरणादिकं तत एव शिक्षेन्नतु स्वतः। यदुक्तमष्टमस्कन्धे "यथाग्निमेधस्यतञ्च गोषु भुव्यन्नमम्वूद्यमने च वृत्तिम्। योगैर्मनुष्या अधियन्ति हि त्वां गुणेषु वुद्ध्या कवयो विदन्ति॥"७॥

अनुवाद—अतएव पूर्वोक्त प्राक्तन और आधुनिक दोनों प्रकारके लोभविशिष्ट भक्तजन जब श्रीकृष्णके नित्य परिकरोंके भाव-प्राप्ति हेतु उपाय जाननेके लिए जिज्ञासु होते हैं, तब उसी अवस्थामें शास्त्र एवं तदनुकूल युक्तिकी अपेक्षा देखी जाती है; क्योंकि केवल शास्त्र-प्रतिपादित युक्तिके द्वारा निर्दिष्ट उपायसे ही उक्त लोभनीय भावकी प्राप्ति हो सकती है। इसके अतिरिक्त उक्त भावको पानेके लिए कोई दूसरा मार्ग ही नहीं है। जैसे किसी व्यक्तिको दूध पीनेके लिए लोभ हुआ, तब दूध कैसे मिले? इसके लिए उपाय जाननेके लिए इच्छा होती है। उसी समय उस दूध-लोभी व्यक्तिको एक ऐसे विश्वसनीय व्यक्तिके उपदेशकी अपेक्षा होती है, जिससे वह सहज ही दूध प्राप्त कर सके। तदनन्तर गाय खरीद करें, उसे खिलायें-पिलायें, फिर बछड़ा होनेपर उस गायका दोहन करें और फिर उस दूधको पीयें। इस प्रकार उन विश्वस्त व्यक्तिके उपदेशानुसार लोभी व्यक्तिको गाय खरीदने, घास-भूसा खिलाने तथा गाय-दोहन आदिके विषयमें विविध प्रकारकी शिक्षाओंको सीखना होता है। इसी प्रकार लोभ-विशिष्ट साधकको शिक्षा लाभ करनी होती है। उपदेश श्रवणके बिना स्वतः ज्ञान लाभ नहीं होता। श्रीमद्भागवत अष्टम स्कन्ध, षष्ठ अध्यायके अन्तर्गत द्वादशवें श्लोकमें ब्रह्माजीने ऐसा ही कहा है कि मनुष्य जैसे उपाय परम्पराके द्वारा लकड़ीसे अग्नि, गायसे दूध, पृथ्वीसे अन्न और जल एवं वाणिज्य-व्यवसायसे अपनी जीविका प्राप्त करता है, उसी प्रकार हे विष्णो!

विशेषज्ञजन ऐसा कहते हैं, बुद्धिके द्वारा सत्त्व आदि गुणोंसे तुम्हारी प्राप्ति होती है॥ ७॥

स च लोभो रागवर्त्मवर्त्तिनां भक्तानां गुरुपादाश्रय-लक्षणमारभ्य स्वाभीष्टवस्तुसाक्षात्प्राप्तिसमयमभिव्याप्य "यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ, मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः। तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं, चक्षुर्यथैवाञ्जनसंप्रयुक्तम्॥" इति भगवदुक्तेर्भक्तिहेतुकान्तःकरणशुद्धितारतम्यात् प्रतिदिनम् अधिकाधिको भवति॥ ८॥

अनुवाद—ऐसा लोभ उत्पन्न होनेपर रागमार्गावलम्बी साधकको श्रीगुरुचरणाश्रय लक्षणरूप साधनके प्रथम सोपानसे आरम्भकर अपनी अभीष्ट वस्तुके साक्षात् दर्शन तक भगवत्-कथाओंका श्रवण और कीर्त्तन करना चाहिये। ऐसा करनेसे ही क्रमशः अन्तःकरणकी शुद्धि होती है और अन्तःकरणकी शुद्धिके तारतम्यसे अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति होती है। श्रीभगवान्ने उद्धवजीसे स्वयं ऐसा कहा है कि मेरी परमपवित्र लीलाकथाओंके श्रवण-कीर्त्तनसे ज्यों-ज्यों चित्तका मैल धुलता जाता है, त्यों-त्यों उसे मेरे जड़ातीत चिन्मय सूक्ष्म शरीरका दर्शन होने लगता है। जैसे अञ्जनके द्वारा नेत्रका दोष मिटनेपर उसमें सूक्ष्म वस्तुओंको देखनेकी शक्ति आने लगती है॥ ८॥

श्रीचन्द्रिका-चकोर-वृत्ति

भक्तिके द्वारा विधौत निर्मल हृदयमें भगवान्का स्वरूप अपने आप उदित होता है। उदाहरण स्वरूप श्रीनारदजीने दासीपुत्रके रूपमें जन्म ग्रहण किया था।

सौभाग्यवश पाँच वर्षकी अवस्थामें उन्हें महत्पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त हो गया। चातुर्मास्यके चारों महीनोंमें हरिकथा श्रवण करनेका प्रचुर शुभावसर लाभ हुआ। साथ ही उन महत्पुरुषोंके उच्छिष्ट महाप्रसाद सेवन तथा उनके श्रीचरणधौत पवित्रजलसे अभिषिक्त होनेका भी सौभाग्य प्राप्त हुआ। चातुर्मास्यके अन्त तक बालक नारदके हृदयमें भगवत्-प्राप्तिकी तीव्र उत्कण्ठा जग उठी। भक्त-ऋषियोंने बालकमें भजनकी तीव्र लालसा देखकर उसे भगवन्मन्त्र तथा भजनकी रीति-नीतिका उपदेश किया।

ऋषियोंके चले जानेपर दैववश नारदजीकी माताका देहान्त हो गया। पञ्च-वर्षीय बालक बड़े भयानक एवं निर्जन वनमें ऋषियोंके बतलाये मन्त्रसे भगवत्-आराधनामें तन्मय हो गया। क्रमशः हृदय निर्मल होनेपर करुणावरुणालय भगवान्का एक झलक दर्शन प्राप्त हुआ। श्रीभगवान्ने उन्हें उसी प्रकार भजन-साधन करते-करते संसारभरमें अपनी लीलाकथाओंका कीर्त्तन करते रहनेका आदेश दिया। वे ऐसा ही करने लगे। सिद्धिकाल उपस्थित होनेपर उन्हें भगवत्-पार्षद शरीरकी प्राप्ति हुई तथा अलक्षित रूपमें उनके पाञ्चभौतिक शरीरका पतन हो गया॥ ८॥

उद्भूते तादृशे लोभे शास्त्रदर्शितेषु तत्तद्भावप्राप्त्युपायेषु, "आचार्य्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति" इत्युद्धवोक्तेः, केषुचिद्गुरुमुखात् केषुचिदभिज्ञमहोदयानुरागिभक्तमुखात् अभिज्ञातेषु केषुचिद्भक्तिमृष्टचित्तवृत्तिषु स्वत एव स्फुरितेषु, सोल्लासमेवातिशयेन प्रवृत्तिः स्यात्। यथा कामार्थिनां कामोपायेषु॥ ९॥

अनुवाद—पूर्वकथित वैसा लौभ समुद्भूत होनेपर "श्रीभगवान् स्वयं बाहरमें श्रीगुरुदेवके रूपमें उपदेशके द्वारा तथा हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे इष्ट वस्तुके आस्वादनका उपाय प्रेरणा द्वारा प्रदानकर अपना स्वरूप प्रकाश करते हैं।" श्रीउद्धवजीकी इस उक्तिके अनुसार शास्त्रमें प्रकाशित भाव-प्राप्तिके उपायोंके सम्बन्धमें किसी-किसी जातलोभ साधकको श्रीगुरुदेवके मुखनिःसृत उपदेशसे, किसी-किसीको रागानुगा-भावाभिज्ञ-अनुरागी-भक्तोंके श्रीमुखसे सम्यक् ज्ञान लाभ होता है। किसी-किसीको भक्तिसुधा द्वारा निर्मल-चित्तवृत्तिमें वह ज्ञान स्वयं ही स्फुरित होता है। ऐसे साधकोंको उन-उन भावोंको प्राप्त करनेके लिए अत्यन्त उल्लासपूर्ण प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। ठीक उसी प्रकारसे जैसे विषय-सुख-अभिलाषी व्यक्तियोंकी वैषयिक भोग्य-वस्तुओंको प्राप्त करनेके लिए उसके उपायोंमें आत्यन्तिकी प्रवृत्ति देखी जाती है॥ ९॥

तच्च शास्त्रं सर्वोपनिषत्सारभूतं येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टमित्यादिवाक्यनिचयाकर श्रीभागवतमहापुराणमेव। तथा तत्प्रतिपादित-भक्तिविवरण-चञ्चु श्रीभक्तिरसामृतार्णवादिकमपि। तत्रत्यं वाक्यत्रयं यथा—"कृष्णं स्मरन् जनञ्चास्य प्रेष्ठं निजसमीहितम्॥ तत्तत्कथारतश्चासौ कुर्य्याद्वासं व्रजे सदा॥" इति॥ सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि। तद्भावलिप्सुना कार्य्या व्रज लोकानुसारतः॥" इति॥ "श्रवणोत्-कीर्त्तनादीनि वैधीभक्त्युदितानि तु। यान्यङ्गानि च तान्यत्र विज्ञेयानि मनीषिभिः॥" इति॥ त्रिकमत्रकामानुगापक्षे एव व्याख्यायते॥ १०॥

अनुवाद—वैसे शास्त्रों तथा सभी उपनिषदोंका सार-स्वरूप श्रीमद्भागवत है। इस श्रीमद्भावतमें ही श्रीभागवान्ने ऐसा कहा है—"मैं ही जिनका प्रिय, आत्मा, पुत्र, सखा, गुरु, सुहृद, देवता और इष्ट हूँ"—इत्यादि सम्बन्ध-व्यंजक वाक्यसमूहोंका आकर-ग्रन्थ श्रीमद्भागवत है। अतः यहाँपर शास्त्र शब्दका तात्पर्य श्रीमद्भागवतसे ही समझना चाहिये। इसके अतिरिक्त श्रीमद्भागवतमें प्रतिपादित भक्तिके विवृतिमूलक श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु प्रभृति ग्रन्थोंको भी उक्त शास्त्र शब्दके द्वारा ग्रहण करना चाहिये।

उक्त भक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थमें रागानुगा भक्ति कैसे प्राप्त की जा सकती है? इसके लिए तीन श्लोकोंमें निर्देश दिया गया है—

(१) कृष्णं स्मरण् जनञ्चास्य प्रेष्ठं निजसमीहितम्।
तत्तात्कथारतश्चासौ कुर्याद्वासं व्रजे सदा॥

(२) सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि।
तद्भावलिप्सुना कार्या व्रज लोकानुसारतः॥

(३) श्रवणोत्कीर्त्तनादीनि वैधीभक्त्युदितानि तु।
यान्यङ्गानि च तान्यत्र विज्ञेयानि मनीषिभिः॥

अर्थात् जिसमें पहले श्लोकका तात्पर्य श्रीकृष्णको और अपने अभिलषित उनके प्रियजनको सदा स्मरण करते हुए उन्हींकी लीलाकथाओंमें निरत रहकर सर्वदा व्रजमें ही वास करना चाहिये। असमर्थ रहनेपर मनके द्वारा वहाँ वास करना चाहिये। दूसरे श्लोकमें इस

रागानुगामार्गमें साधक रूपसे अर्थात् यथावस्थित बाह्यदेहके द्वारा और सिद्ध रूपमें अर्थात् अन्तश्चिन्तित अपनी मनोऽभिलषित श्रीकृष्णसेवाके लिए उपयोगी देहके द्वारा व्रजस्थित अपने अभीष्ट श्रीकृष्णके प्रियजनोंके भाव अर्थात् रति-विशेषके प्रति लुब्ध होकर श्रीकृष्णके प्रियजनों एवं उनके अनुगत जनोंका अनुसरण करते हुए उनकी सेवामें सदा तत्पर रहना चाहिये। तृतीय श्लोकका अर्थ है—वैधीभक्तिमें श्रवण, कीर्त्तनादि जिन भक्त्यङ्गोंके पालन करनेकी बात अधिकारीके अनुसार कही गयी है, भक्तितत्त्वविद् पण्डितजन रागानुगा भक्तिमें भी योग्यताके अनुसार उन्हीं अङ्गोंके पालनकी उपयोगिता निर्देश करते हैं। ये तीनों श्लोक भक्तिरसामृतसिन्धुमें रागानुगाभक्तिके अधिकारी निर्णयके प्रसङ्गमें कहे गये हैं। यहाँ इन तीनों श्लोकोंकी व्याख्या कामानुगाके पक्षमें की जा रही है॥ १०॥

श्रीचन्द्रिका-चकोर-वृत्ति

व्रजपरिकरोंमें स्वभावतः विराजमान भक्तिको रागात्मिका भक्ति कहते हैं। यह रागात्मिकाभक्ति दो प्रकारकी होती है—सम्बन्धरूपा और कामरूपा। श्रीदाम, सुबल, अर्जुन, मधुमङ्गल आदि सखा, नन्द-यशोदा एवं अन्यान्य गरुजनोंमें सम्बन्धरूपा भक्ति है। क्योंकि इनमें सखा, पुत्रादिका सम्बन्ध होता है। व्रजसुन्दरियोंमें सम्बन्ध रहनेपर भी कामरूप एक विशेष भाव होता है, जो व्रजसुन्दरियोंके अतिरिक्त दास्य, सख्य और वात्सल्य रसके परिकरोंमें

कहीं भी उपलब्ध नहीं है। यहाँ 'काम' शब्दसे सम्भोग तृष्णाका बोध होता है। सम्भोगतृष्णाका स्वरूप रागात्मिका भक्तिके स्वरूपमें बदलनेसे उसमें अहैतुक प्रीतिमय-स्वभाव उदित होता है, अर्थात् प्रीति-सम्भोग कृष्ण-तृष्णामयी होती है। कृष्णके सुख-समृद्धिके लिए ही अखिल चेष्टाएँ होती हैं और अपने सुखकी चेष्टासे सर्वथा रहित होती हैं। यदि अपने सुखकी चेष्टा रहती भी है, तो वह श्रीकृष्णकी सुख-समृद्धिके लिए ही स्वीकृत होती है। यह अपूर्व प्रेम केवल कृष्ण-प्रेयसी व्रजाङ्गनाओंमें ही विराजमान होता है। व्रजगोपीयोंका यह प्रेम एक अत्यन्त आश्चर्यजनक माधुरीको प्राप्तकर उन क्रीड़ाओंको उत्पन्न करता है। इसलिए इस प्रेम-विशेष-तत्त्वको पण्डितजन काम कहते हैं। वास्तवमें व्रजबालाओंका काम अप्राकृत और दोषगन्धसे सर्वदा रहित होता है। बद्धजीवोंका काम सदोष और तुच्छ होता है। व्रजगोपियोंका काम इतना विशुद्ध और सर्वाकर्षक होता है कि उद्धव जैसे भगवान्‌के परमप्रियजन भी उसे पानेकी लालसा रखते हैं। व्रजवासियोंके कामकी तुलनाका कोई दूसरा स्थल ही नहीं। केवल वही काम अपनी तुलनाका स्थल है। कामरूपा रागात्मिका भक्ति व्रजके अतिरिक्त और कहीं भी देखी नहीं जाती। मथुरामें कृष्णके प्रति जो काम देखा जाता है—वह वास्तवमें काम नहीं, रतिमात्र है। जिस कामका यहाँ विवेचन हुआ है, उससे कुब्जाका कोई सम्बन्ध नहीं है।

कामरूपा भक्ति भी दो प्रकारकी होती है—सम्भोगेच्छामयी और तत्तद्भावेच्छामयी। सम्भोगेच्छामयी केलि तात्पर्यमयी

होती है। केलिका अर्थ क्रीड़ा अथवा विलाससे है। व्रजदेवियोंके साथ कृष्णकी अप्राकृत क्रीड़ाको सम्भोग कहते हैं और कृष्णके सहित राधा और चन्द्रावली प्रभृति यूथेश्वरियोंके अङ्गसङ्गादिके विषयमें सहायता करनेमें ही अपना अतिशय सुख मानकर नायक-नायिकाके परस्पर जो भाव-विशेष होते हैं, उसीमें अभिलाषामयी जो भक्ति होती है, वही तत्तद्भावेच्छामयी कहलाती है।

इस कामरूपा भक्तिकी अनुगामिनी जो तृष्णा होती है, उसीको कामानुगा भक्ति कहते हैं। यह कामानुगा भक्ति भी दो प्रकारकी होती है—सम्भोगेच्छामयी कामानुगा और तत्तद्भावेच्छामयी कामानुगा।

सम्भोगेच्छामयी कामरूपा भक्तिकी अनुगामिनी भक्तिको सम्भोगेच्छामयी कामानुगा या मुख्य कामानुगा तथा तत्तद्भावेच्छामयी कामरूपाकी अनुगामिनी भक्तिको तत्तद्भावेच्छामयी कामानुगा भक्ति कहते हैं। इस तत्तद्भावेच्छामयीको ही मञ्जरी भाव कहा गया है। इसके स्थायी भावको उल्लासरति कहते हैं। श्रीरूपमञ्जरी, रतिमञ्जरी, लवङ्गमञ्जरी आदिमें उल्लासरति होती है। श्रीकृष्णकी रति-प्रार्थनामें भी ये विमुख रहकर, दोनोंके मिलन रसके आस्वादनमें ही अपनेको कृतार्थ मानती है। साधकजीवोंके लिए श्रीचैतन्य महाप्रभु इसी अनर्पितचरीं चिरात् उन्नतोज्ज्वल रसकी शोभा अर्थात् मञ्जरी भावको प्रदान करने एवं महाभाव-स्वरूपिणी श्रीराधाके निगूढ़ भावोंका रसास्वादन करनेके लिए आविर्भूत हुए थे॥ १०॥

प्रथमतः कृष्णं स्मरन् इति स्मरणस्यात्र रागानुगायां मुख्यत्वं रागस्य मनोधर्मत्वात्। प्रेष्ठं निजभावोचित-लीलाविलासिनं कृष्णं वृन्दावनाधीश्वरम्। अस्य कृष्णस्य जनञ्च कीदृशं निजसमीहितं स्वाभिलषनीयं श्रीवृन्दावनेश्वरी-ललिताविशाखाश्रीरूपमञ्जर्यादिकम्। कृष्णस्यापि निज-समीहितत्वेऽपि तज्जनस्य उज्ज्वलभावैकनिष्ठत्वात् निजसमी-हितत्वाधिक्यम्। व्रजे वासमिति असामर्थ्ये मनसापि। साधकशरीरेण वासस्तु उत्तरश्लोकार्थतः प्राप्त एव। साधकरूपेण यथावस्थितदेहेन। सिद्धरूपेणान्तश्चिन्तिताभीष्टतत् साक्षात्-सेवोपयोगिदेहेन। तद्भावलिप्सुना-तद्भावः स्वप्रेष्ठकृष्णविषयकः स्वसमीहितकृष्णजनाश्रयकश्च यो भाव उज्ज्वलाख्यस्तं लब्धुमिच्छता। सेवा मनसैवोपस्थापितैः साक्षादप्युपस्थापितैश्च समुचितद्रव्यादिभिः परिचर्या कार्या। तत्र प्रकारमाह, व्रजलोकानुसारतः साधकरूपेणानुगम्यमाना ये व्रजलोकाः श्रीरूपगोस्वाम्यादयः ये च सिद्धरूपेणानुगम्यमानाः व्रजलोकाः श्रीरूपमञ्जर्यादयस्तदनुसारतः। तथैव साधकरूपेणानुगम्यमाना व्रजलोकाः प्राप्तकृष्णसम्बन्धिनो जनाश्चन्द्रकान्त्यादयः दण्डकारण्यवासिमुनयश्च वृहद्वामनप्रसिद्धाः श्रुतयश्च यथासम्भवं ज्ञेयाः। तदनुसारतस्तत्तदाचारदृष्ट्येत्यर्थः। तदेवं वाक्यद्वयेन स्मरणं व्रजवासञ्च उक्त्वा श्रवणादीनप्याह-श्रवणोत्कीर्तनादीनीति। गुरुपादाश्रयणादीनि त्वाक्षेपलब्धानि। तानि विना व्रजलोकानुगत्यादिकं किमपि न सिध्येदित्यतो मनीषिभिरिति मनीषया विमृष्यैव स्वीयभावसमुचितान्येव तानि कार्याणि नतु तद्विरुद्धानि॥ ११॥

अनुवाद—सर्वप्रथम 'कृष्णं-स्मरन्' अर्थात् "श्रीकृष्णको स्मरण कर"—इस पदके द्वारा यह सूचित हो रहा है कि रागानुगामार्गमें स्मरणाङ्गकी ही प्रधानता है, क्योंकि राग मानसिक धर्म है। 'प्रेष्ठं' अर्थात् प्रियतमका तात्पर्य अपने अभिलषित लीला-विलासकारी वृन्दावनाधीश्वर प्रियतम कृष्णसे है। 'जनञ्चास्य' शब्दके द्वारा श्रीकृष्णके प्रियजनका बोध होता है। वे कौन हैं? इस आशङ्काको दूर करनेके लिए विशेषणके रूपमें 'निजसमीहितम्' का प्रयोग किया गया है। अर्थात् अपने अभिलषित भावके अनुरूप वृन्दावनेश्वरी श्रीमती राधिका, श्रीललिता, श्रीविशाखा और रूपमञ्जरी प्रभृतिको समझना चाहिये। उज्ज्वल भावके प्रति लुब्धचित्त साधक-भक्तोंके लिए श्रीकृष्ण अपने अभिलषणीय होनेपर भी श्रीकृष्णके परिकर, श्रीराधादि व्रजसुन्दरियोंके उज्ज्वल भावमें उनकी अधिकतर प्रगाढ़ निष्ठा रहती है। अतः ऐसे परिकरोंके भाव ही वैसे भक्तोंके अधिकतर अभिलषणीय होते हैं। "कुर्याद्वासं व्रजे सदा"—व्रजमें सदा वास करना चाहिये। शरीरके द्वारा असमर्थ होनेपर मनके द्वारा भी व्रजमें निवास करना चाहिये, ऐसा सूचित होता है। क्योंकि अगले श्लोककी व्याख्यामें स्पष्ट रूपसे साधक शरीरके द्वारा व्रजमें वास करनेकी बात कही गयी है।

'साधक-रूपेण' का तात्पर्य यथावस्थित बाह्य साधक देहके द्वारा, 'सिद्ध-रूपेण' का अर्थ है—अपने अभीष्ट अन्तश्चिन्तित श्रीकृष्णकी साक्षात् सेवाके उपयोगी देहके द्वारा और 'तद्भावलिप्सुना' का तात्पर्य है—अपने प्रियतम

श्रीकृष्ण विषयक एवं अपने अभिलषणीय श्रीकृष्णप्रिया श्रीमती राधिका प्रभृतिमें जो उज्ज्वलभाव सर्वदा विद्यमान रहते हैं, उन्हें प्राप्त करनेके लिए समुत्सुक होकर सेवाकार्य करना चाहिये। वह सेवा कैसी होनी चाहिये? उसे बतला रहे हैं—मनसे संग्रहीत अथवा साक्षात् रूपसे संग्रहीत द्रव्य इत्यादिके द्वारा सेवापरिचर्या करनी चाहिये। पुनः वह सेवापरिचर्या किस रूपमें होनी चाहिये? इसके उत्तरमें बतला रहे हैं—'व्रजलोकानुसारतः' अर्थात् व्रजवासियोंकी सेवाका अनुसरणकर सेवापरिचर्या करनी चाहिये। अर्थात् भक्तजन साधक शरीरके द्वारा जिनका अनुगमन करते हैं—साधक देहमें उन श्रीरूपगोस्वामी आदि व्रजवासियोंका तथा सिद्धदेहमें जिनका आनुगत्य करते हैं, उन श्रीरूपमञ्जरी प्रभृति व्रजवासियोंकी सेवापरिपाटीके अनुसार सेवा करनी चाहिये।

यहाँ 'व्रजलोकानुसारतः' का एक दूसरा तात्पर्य भी बतला रहे हैं। इसके द्वारा पूर्व-पूर्व जन्मोंमें जिन्होंने साधनकर श्रीवृन्दावनमें श्रीकृष्णके साथ सम्बन्ध प्राप्त किया है, ऐसी चन्द्रकान्ति प्रभृति सखीयों, पद्मपुराणमें वर्णित प्रसिद्ध दण्डकारण्यवासी मुनियों तथा बृहद्वामन पुराणोक्त श्रुतियोंको भी समझना चाहिये। पूर्वोक्त व्रजवासियोंका अनुसरणपूर्वक अर्थात् उनका आचरण देखकर वैसी ही परिचर्या करनी चाहिये। इस प्रकार पहले दो श्लोकोंके द्वारा स्मरण एवं व्रजवासका विषय वर्णनकर तीसरे श्लोकमें श्रवणादि साधनाङ्गोंके सम्बन्धमें बतला रहे हैं। यथा 'श्रवणोत्कीर्त्तनादीनि'—श्रवण और कीर्त्तनादि अङ्गोंको

पालन करना चाहिये। यहाँ श्रवण-कीर्त्तनादि शब्दमें आदि शब्दके द्वारा श्रीगुरुपदाश्रयादि सभी अङ्गोंकी ही ग्रहण करना चाहिये। उक्त श्रवणकीर्त्तनादि साधनके अतिरिक्त व्रजलोकके आनुगत्य प्रभृति दूसरे साधन अभीष्ट फल देनेमें समर्थ नहीं है, ऐसा विशेष रूपसे बतलानेके लिए ही यहाँ 'मनीषिभिः' शब्दका प्रयोग किया गया है अर्थात् बुद्धिमानजन अपनी विवेक बुद्धिकी सहायतासे अच्छी तरह विचारकर अपने भावोंके लिए अनुकूल साधनाङ्गोंका आचरण करेंगे। अपने भावोंके विरुद्ध कोई भी आचरण करना कर्त्तव्य नहीं है। क्योंकि भावके आविर्भाव होनेमें वह बाधा-स्वरूप है॥ ११॥

श्रीचन्द्रिका-चकोर-वृत्ति

ग्रन्थकारने इस रागानुगा साधनभक्तिके विषयमें श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुके उपरोक्त तीन श्लोकोंको उद्धृत किया है। इन तीनों श्लोकोंका श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुमें उल्लेख यद्यपि दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर रसोंके लोभयुक्त साधकोंके लिए साधारण रूपमें किया गया है, तथापि ग्रन्थकार श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरजीने इस ग्रन्थमें उन श्लोकोंका उल्लेखकर उसका अर्थ कामानुगा साधकों और उसमें भी तत्तद्भावेच्छामयी कामानुगा साधकोंके लिए ही किया है, ऐसा समझना चाहिये। यहाँ श्रीकृष्ण अपना अभिलषणीय होनेपर भी श्रीमती राधाके प्राणबन्धु श्रीराधाकान्त रूपसे ही अभिप्रेत हैं, स्वतन्त्र अपने नायक या प्रियतम कृष्ण रूप नहीं। क्योंकि ऐसी मञ्जरी

सखियाँ सर्वप्रकारसे श्रीमती राधिकाके प्रति समर्पित होती हैं तथा श्रीकृष्णको अपनी ईश्वरी श्रीमतीराधिकाके प्राणनाथके रूपमें ही जानती हैं। रूपानुगवर श्रीलरघुनाथदास गोस्वामीने मनःशिक्षामें ऐसा ही कहा है—"मदीशानाथत्वे व्रजविपिनचन्द्रं।"

यहाँ उक्त श्लोकमें 'जनञ्चास्य' से वृन्दावनेश्वरी श्रीमती राधिका आदिका इङ्गित रहनेपर भी श्रीरूपमञ्जरी, श्रीरतिमञ्जरी आदि मञ्जरी-सखियोंको ही विशेष रूपमें समझना चाहिये।

श्रील रघुनाथदास गोस्वामीने विलाप-कुसुमाञ्जलीमें—

पादाब्जयोस्तव बिना वर दास्यमेव नान्यत्
कदापि समये किल देवि याचे।
सख्यायते मम नमोऽस्तु नमोऽस्तु नित्यं
दास्यायते मम रसोऽस्तु रसोऽस्तु सत्यम॥

अर्थात् हे देवि! तुम्हारे श्रीचरणकमलोंके श्रेष्ठ दास्यके अतिरिक्त कभी भी कोई दूसरी (सखी होनेकी) अभिलाषा नहीं करता। तुम्हारे सखीत्वको मेरा बारम्बार प्रणाम है, तुम्हारे दासीत्वमें ही मेरा दृढ़ अनुराग हो—मैं ऐसा शपथपूर्वक कह रहा हूँ।

और भी व्रजविलासस्तव (३८) में—

ताम्बुलार्पण-पादमर्दन पयोदानाभिसारादिभि
र्वृन्दारण्यमहेश्वरी प्रियतया यास्तोषयन्ति प्रियाः।
प्राणप्रेष्ठसखीकुलादपि किलासंकोचिता भूमिकाः
केलीभूमिषु रूपमञ्जरिमुखास्ता दासिकाः संश्रये॥

अर्थात् जो ताम्बुल प्रदान करना, श्रीचरणोंकी परिचर्या, जल देना और अभिसार कराना आदि कार्योंके द्वारा प्रेमपूर्वक श्रीमती राधिकाको सदा-सर्वदा सन्तुष्ट रखती हैं, प्राणप्रेष्ठ सखियोंकी अपेक्षा भी सेवाकार्यमें असंकोच भावको प्राप्त हुई, श्रीमती राधिकाजीकी उन रूपमञ्जरी प्रमुख सेविकाओंका मैं आश्रय ग्रहण करता हूँ।

इन सबका मूल तात्पर्य है कि तत्तद्भावेच्छामयी सखियाँ तथा उनके भाव अधिकतर अभिलषणीय हैं।

"व्रजमें वास करना चाहिये" का तात्पर्य है, ऐसे रागानुगा साधकोंके लिए अपनी अभिलषित भावनाओंसे सम्बन्धित श्रीश्रीराधाकृष्णयुगलकी निगूढ़ लीला-स्थलियों—जैसे श्रीराधाकुण्ड, सूर्यकुण्ड, श्रीगोवर्धन, श्रीवृन्दावनीय सेवाकुञ्ज-निधुवन-वंशीवट, नन्दगाँव, नन्दगाँवमें भी पावन-सरोवर, कदम्बटेर, श्रीउद्धवक्यारी, सङ्केत, यावट आदिमें वासकर साधन-भजन करना चाहिये। श्रीलजीव गोस्वामीने इसी श्लोककी टीकामें लिखा है—"अथ रागानुगायाः परिपाटीमाह-कृष्णमित्यादिना सामर्थ्ये सति व्रजे श्रीमन्नन्दव्रजावासस्थाने श्रीवृन्दावनादौ शरीरेण वासं कुर्य्यात्, तदभावे मनसापीत्यर्थः॥" अर्थात् समर्थ रहनेपर रागानुगा साधककों व्रजमें अर्थात् नन्द महाराजके वासस्थानके निकट श्रीवृन्दावनादि धामोंमें शरीरके द्वारा वास करना चाहिये और असमर्थ होनेपर मनके द्वारा भी वास करना चाहिए।

ये लीलास्थलियाँ चिन्मयी सिद्धपीठ हैं। इनकी अहैतुकी कृपासे उन-उन लीलाओंका प्रवाह निष्कपट साधकोंके हृदयमें अनायास ही सञ्चरित होने लगता है। ब्रह्माण्ड

पुराणमें कहा गया है—"परानन्दमयी सिद्धिर्मथुरास्पर्शमात्रतः" अर्थात् मथुरा व्रजभूमिके स्पर्शमात्रसे ही परानन्दमयी सिद्धि प्राप्त होती है। अलौकिक अचिन्त्य वस्तुकी शक्ति बुद्धिवृत्तिकी अपेक्षा नहीं रखती।

श्रीलसनातन गोस्वामीने श्रीबृहद्भागवतामृतमें ऐसा वर्णन किया है कि भक्तप्रवर श्रीनारदजीने रसिक-शिरोमणि श्रीकृष्णसे ऐसी ही प्रार्थना की थी। धामके एकान्त अनुगत होनेसे श्रीधाम उनपर अवश्य ही कृपा करते हैं। क्योंकि धाम श्रीकृष्णके स्वरूप हैं।

तद्वै तस्य प्रिय क्रीड़ावनभूमौ सदा रहः।
निवसंस्तनुयादेवं सम्पद्येताचिराद्ध्रुवम्॥

अर्थात् हे गोपकुमार! व्रजगोप-गोपियोंकी दास्य प्राप्तिकी इच्छा रहनेपर श्रीकृष्णकी प्रिय क्रीड़ाभूमी व्रजमें सर्वदा निवासकर प्रेमसाधनाका अनुष्ठान करना होता है। ऐसा होनेपर वह अत्यन्त दुर्लभ प्रेम सुनिश्चित रूपमें अत्यन्त शीघ्र ही सुसिद्ध हो जाता है।

श्रीरूपगोस्वामीने उपदेशामृतमें समस्त शिक्षाओंका सार बतलाते हुए व्रजमें वासकी निष्ठाको इस प्रकार व्यक्त किया है—

तन्नामरूपचरितादि सुकीर्त्तनानु
स्मृत्योः क्रमेण रसनामनसी नियोज्य।
तिष्ठन् व्रजे तदनुरागीजनानुगामी
कालंनयेदखिलमित्युपदेशसारम्॥

अर्थात् भक्तमात्रको चाहिये कि वह अपनी रसना और मनको अन्यान्य कृष्णेतर विषयोंसे हटाकर श्रीकृष्णके नाम, रूप, गुण, लीला-कथाके कीर्त्तन और स्मरणमें क्रमशः लगाकर, श्रीव्रजमण्डलमें ही निवासकर, श्रीकृष्णके अनुरागीजनोंका अनुगामी बनकर अपने समस्त समयको व्यतीत करता रहे, यह समस्त उपदेशोंका सार है।

श्रीरघुनाथदास गोस्वामीकी व्रजवासकी निष्ठा पराकाष्ठा रूपमें प्रकटित है—

श्रीरूपरतिमञ्जर्य्योरंघ्रिसेवैकगृह्यता ।
असंख्येनापि जनुषा व्रजे वासोऽस्तु मेऽनिशम्॥
(श्रीप्रार्थनामृतम्-१)

अर्थात् श्रीरूप और श्रीरति मञ्जरीकी चरणसेवा प्राप्तिकी अभिलाषासे (जिन-जिन जन्मोंमें वह अभिलाषा हृदयमें जागरूक रह सकती है) ऐसे-ऐसे असंख्य जन्मोंमें भी मेरा निरन्तर व्रजवासका सङ्कल्प सिद्ध हो।

और भी—

वसतो गिरिवरकुँजे लपतः श्रीराधिकेऽनु कृष्णेति।
धयतो व्रज-दधितक्रं नाथ सदा मे दिनानि गच्छन्तु॥
(श्रीप्रार्थनाश्रय-१४)

अर्थात् हे नाथ! गोवर्द्धन कुञ्जमें सदा-सर्वदा वासकर हा राधे! हा कृष्ण! नामको सतत कीर्त्तन करता हुआ व्रजमें उत्पन्न दधि-तक्र पानकर हमारे अवशिष्ट दिन अतिवाहित हों।

श्रीपाद रघुनाथदास गोस्वामी इस श्लोकमें अत्यन्त प्रीतिके साथ व्रजधामके प्रति निष्ठा प्रकाशकर व्रजवासके लिए दृढ़सङ्कल्प ग्रहण कर रहे हैं—

न चान्यत्र क्षेत्रे हरितनु-सनाथेऽपि सुजनाद्
रसास्वादं प्रेम्णा दधदपि वसामि क्षणमपि।
समं त्वेतद् ग्राम्यावलिभिरभितन्वन्नपि कथां
विधास्ये संवास व्रजभुवन एव प्रतिभवम्॥

(स्वनियमदशकम-२)

अर्थात् यदि किसी दूसरे धाममें श्रीकृष्णका श्रीविग्रह भी विद्यमान रहे और वहाँ प्रीतिपूर्वक महापुरुषोंके मुखसे निसृत हरिकथाके रसास्वादनका सौभाग्य भी प्राप्त होता हो, तो मैं ऐसे किसी भी दूसरे धाममें क्षणकालके लिए भी वास करना नहीं चाहता। किन्तु व्रजभूमिमें ही ग्रामीण लोगोंके सङ्गमें ग्राम्य कथाओंका (भगवत्-इतरकथाओं) आलाप करते हुए भी जन्म-जन्ममें निवास करूँगा।

विशेष कारणोंसे व्रजवास करनेमें असमर्थ होनेपर साधकको मनके द्वारा ही व्रजमें निवास करना चाहिये। श्रील रूपगोस्वामीने स्वयं मूलश्लोकमें साधकोंके लिए व्रजमें रहकर साधन करनेका निर्देश दिया है—"कुर्याद्वासं व्रजे सदा।"

यहाँ 'साधकरूपेण' का तात्पर्य है "यथावस्थित साधक देहके द्वारा" वैसा ही साधन करना चाहिये, जैसा कि श्रीरूप, श्रीसनातन, श्रीरघुनाथदास गोस्वामी आदिने भजन किया था। श्रीचैतन्यचरितामृतमें इनकी भजन-परिपाटीके सम्बन्धमें इस प्रकार कहा गया है—

अनिकेत दुँहे वने यत वृक्षगण।
एक एक वृक्षेर तले एक एक रात्रि शयन॥

विप्रगृहे स्थूलभिक्षा, काँहा माधुकरी।
शुष्क रूटी चाना चिवाय भोग परिहरि॥

करोंया-मात्र हाते, कांथा, छिंड़ा-वहिर्वास।
कृष्णकथा, कृष्णनाम, नर्त्तन-उल्लास॥

अष्टप्रहर कृष्णभजन, चारि दण्ड शयने।
नाम-संकीर्त्तन-प्रेम, सेह नहे कोन दिने॥

कभु भक्तिरसशास्त्र करये लिखन।
चैतन्यकथा शुने, करे चैतन्य-चिन्तन॥
(चै॰ च॰ म॰ १९/१२७-१३१)

अर्थात् कोई भक्त श्रीवृन्दावनका दर्शनकर लौटनेपर महाप्रभुके परिकर भक्तगण उनसे श्रीरूप-सनातन गोस्वामियोंके कुशल-क्षेम पूछनेपर उत्तर देते हैं कि वे अपने लिए भजनकुटी भी न बनाकर व्रजके एक-एक पेड़के नीचे एक-एक रात्रि निवासकर कठोर वैराग्यके साथ भावोंमें निमग्न रहकर भजनमें तत्पर रहते हैं। वे कभी ब्राह्मणोंके घर स्थूलभिक्षा, कभी माधुकरी, कभी सूखी रोटी, कभी चना चबाकर भी और कभी उपवास रहकर जीवनका किसी प्रकार निर्वाह करते हैं। केवलमात्र पानी पीनेके लिए मिट्टीका करूवा, शरीरपर फटी गूदड़ी, फटा बहिर्वास धारण करते हैं। कृष्णकथाके श्रवणकीर्त्तन, हरिनाम-सङ्कीर्त्तन करने, उल्लासपूर्वक भावनिमग्न होकर

नृत्यादि कृष्णभजन करनेमें ही दिनरातके आठों प्रहर व्यतीत हो जाते हैं। केवल रातमें चार दण्ड (एक दण्ड = २४ मिनट) और कभी भजनमें आविष्ट रहनेसे शयन करते ही नहीं हैं। कभी भक्तिशास्त्रोंका सृजन करते हैं, श्रीचैतन्य महाप्रभुकी लीलाओंका श्रवण करते हैं, कभी उनके चिन्तनमें डूब जाते हैं। इसे सुनकर सभी लोग रोने लगे। श्रीनिवासाचार्य प्रभुने षड्गोस्वाम्यष्टकम्में उनके साधनभजनकी निष्ठाका वर्णन किया है—

संख्यापूर्वक-नामगाननतिभिः कालावसानीकृतौ
निद्राहार-विहारकादि-विजितौ चात्यन्त-दीनौ च यौ।
राधाकृष्ण-गुणस्मृतेर्मधुरिमानन्देन सम्मोहितौ
वन्दे रूप-सनातनौ रघुयुगौ श्रीजीव-गोपालकौ॥

अर्थात् मैं श्रीरूप-सनातनादि उन छह गोस्वामियोंकी वन्दना करता हूँ, जो अपने समयको संख्यापूर्वक नाम-जप, नामसङ्कीर्त्तन एवं संख्यापूर्वक प्रणाम आदिके द्वारा व्यतीत करते थे, जिन्होंने निद्राहार-विहार आदि पर विजय पा ली थी, जो अपनेको अत्यन्त दीन मानते थे तथा श्रीराधाकृष्णके गुणोंकी स्मृतिसे प्राप्त माधुर्यमय आनन्दके द्वारा विमुग्ध रहते थे।

और 'सिद्धरूपेण' अपने अभीष्ट अन्तश्चिन्तित एवं श्रीराधाकृष्ण युगलकी साक्षाद् सेवाके उपयोगी सिद्धदेहके द्वारा मानसीसेवा करनी चाहिये।

यह विषय बहुत ही गम्भीर है। श्रीगुरुदेव अथवा शुद्धरसिक भक्तोंकी कृपाके बिना साधक अपने सिद्धदेहकी

भावना स्वयं नहीं कर सकता। अतः श्रीलगुरुदेवके कृपानिर्देशसे ही अपने नित्यसिद्ध देहकी भावना स्वयं उदित होती है। उसी नित्यसिद्ध देहसे अष्टकालीय मानसीसेवा स्मरण करते-करते स्वरूपसिद्धि और अन्तमें वस्तुसिद्धि होती है, किन्तु यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि इस अप्राकृत दैनन्दिनी युगलसेवा-स्मरणमें सबका अधिकार नहीं है। इस पद्धतिको विशेषरूपसे गुप्त रखना ही कर्त्तव्य है। अनधिकारी लोगोंको इन लीलाओंका श्रवण नहीं कराना चाहिये। जड़बद्धजीवोंके हृदयमें जबतक रागमार्गमें प्रवेश करनेका यथार्थ लोभ उत्पन्न नहीं हो जाता, तब तक उनसे इस विषयको गुप्त रखना ही उचित है। भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, लीलाका अप्राकृतत्व अर्थात् ये सभी शुद्ध चिन्मय स्वरूप हैं, यह भाव जब तक हृदयमें उदित नहीं होता, तबतक श्रीयुगलकी रहस्यपूर्ण रसमयी लीलाओंके श्रवणका अधिकार नहीं होता। अनधिकारी व्यक्ति इन लीलाओंका श्रवण या पाठकर केवल मायिक एवं जड़ीय स्त्री-पुरुषके सङ्गका ध्यानकर अधःपतित होनेके लिए बाध्य होते हैं, अतः वे व्यभिचारके पङ्कमें धंस जाते हैं। इसलिए सुधी पाठकगण सावधान होकर देवर्षि नारदकी भाँति अप्राकृत शृङ्गार संस्कार लाभकर ही इस लीलामें प्रवेश करें।

मूल तात्पर्य यह है कि साधक उपर्युक्त अधिकारी होकर ही रागानुगा भक्तिका साधन करेंगे। बिना यथार्थ लोभ उत्पन्न हुए अनर्थयुक्त अवस्थामें इस साधन पद्धतिका अनुसरण करनेसे विपरीत फल होता है। व्रजभजनके

लिए यथार्थ लोभ उत्पन्न होनेपर सबसे पहले श्रीव्रजेन्द्रनन्दनाभिन्न श्रीगौरसुन्दरके किसी निजीजनका आश्रय ग्रहण करना चाहिये। वे गौरप्रियजन हमारे अधिकारके अनुरूप हमें रागानुगा साधन पथकी शिक्षा देंगे। अन्यथा कुसङ्गमें पड़कर उनके कुपरामर्शसे उन्नताधिकार भजनका अनुकरण करनेसे केवलमात्र कुफल ही प्राप्त होगा। कोई-कोई व्यक्ति "व्रजलोकके अनुसार भजन करना चाहिये" का कदर्थकर अपनेको ललिता और विशाखा आदि मानकर पुरुषदेहको स्त्रीका रूप बनाकर, सखी बनकर भजन करते हैं। ऐसा करके अपना और दूसरोंका सर्वनाश ही किया करते हैं। मैं ललिता हूँ, मैं विशाखा हूँ—यही मायावादियोंकी अहंग्रोपासना हो जाती है। तथा ललिता-विशाखा आदिके चरणोंमें भी वे अपराधी होकर घोर नरकको प्राप्त होते हैं।

व्रजगोपियोंके आनुगत्यके बिना युगलकिशोरकी मधुर सेवामें और किसीका भी अधिकार नहीं है। उन सखियोंमें भी सखियोंके अनुगत मञ्जरी-सखियोंके आनुगत्यमें भजन करना ही श्रीमन् महाप्रभुका अभीष्ट है और यही श्रीमद्भागवत और हमारे गोस्वामियोंके द्वारा रचित शास्त्रों द्वारा अनुमोदित है। मञ्जरीभावका अनुसरण करनेके लिए श्रीगौरपरिवार रूप-सनातनका आनुगत्य अवश्य ही स्वीकार करना होगा। श्रीलनरोत्तम ठाकुरने स्वाभीष्ट लालसाके एक पदमें, मञ्जरीभावकी उपासनाके गीतमें ऐसा कहा है—

श्रीरूपमञ्जरीपद सेई मोर सम्पद
सेई मोर भजन-पूजन।
सेई मोर प्राणधन सेई मोर आभरण
सेई मोर जीवनेर जीवन॥

अर्थात् श्रीलनरोत्तम ठाकुरजी कहते हैं कि श्रीरूपमञ्जरीके चरणकमल ही मेरे लिए श्रेष्ठ सम्पत्ति हैं, उनका चिन्तन और सेवन ही मेरा सर्वश्रेष्ठ भजन और पूजन है, वही मेरे प्राणसे भी प्रिय धन हैं, वही मेरे जीवनके अलङ्कार हैं, केवल यही नहीं, वह मेरे जीवनके भी जीवन-स्वरूप हैं।

और भी कहते हैं, मैंने वैष्णव-साधुओंके मुखसे यह सुना है कि श्रीलरूप गोस्वामीकी कृपासे ही श्रीयुगल-चरणोंकी प्राप्ति होती है। वे हा-हाकार करते हुए कहते हैं—हा सनातन प्रभु! गौरपरिवारके परम दयालु वैष्णवगण! आप सभी मिलकर मेरी अभिलाषाको पूर्ण करें। मेरी पुनः-पुनः प्रार्थना है, इन श्रीरूप गोस्वामीकी कृपा मेरे प्रति वर्षित हो। अहा! जिन्हें श्रीलरूप गोस्वामीके चरणकमलोंका आश्रय मिल गया, वे ही सौभाग्यवान हैं। मेरे श्रीलगुरुदेव श्रीलोकनाथ गोस्वामी मुझे कब अपने साथ लेकर, श्रीलरूप गोस्वामीके निकट जायेंगे और उनके चरणकमलोंमें मुझे समर्पित कर देंगे।

सिद्धदेहकी प्राप्तिके लिए श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर श्रीराधाकृष्णके चरणोंमें प्रार्थना कर रहे हैं—

सिद्ध देह दिया वृन्दावन माझे
सेवामृत कर दान।
पियाइया प्रेम मत्त करि मोरे
सुन निज गुणगान॥

युगल सेवाय श्रीरासमण्डले
नियुक्त करह आमाय।
ललिता सखीर अयोग्या किङ्करी
विनोद धरिछे पाय॥

सिद्धदेहके द्वारा युगलकिशोरकी सेवाओंके सम्बन्धमें श्रीलरूप गोस्वामीने कार्पण्यपञ्जिका स्तोत्र, उत्कलिकावल्लरी, श्रीगान्धर्वासम्प्रार्थनाष्टकम् आदिमें तथा श्रीरघुनाथदास गोस्वामीने विलापकुसुमाञ्जलि, प्रेमपूराभिधस्तोत्रम, उत्कण्ठादशकम्, स्वसङ्कल्पप्रकाशस्तोत्रम, श्रीप्रार्थनामृत स्तोत्रम्, अभीष्ट-प्रार्थनाष्टकम् आदि स्तव-स्तुतियोंमें कुछ-कुछ प्रकाश किया है। ग्रन्थकार श्रीलचक्रवर्ती ठाकुरने अपने सङ्कल्पकल्पद्रुममें भी ऐसे ही भावोंका उल्लेख किया है। ये समस्त निगूढ़ भाव ही रागानुगा भक्ति-साधकोंके लिए चिन्तामणि स्वरूप श्रेष्ठ-सम्पद हैं।

श्रीरघुनाथदास गोस्वामीने अपने निगूढ़ भावोंका इस प्रकार प्रकाशित किया है—

श्रीरूपमञ्जरी-करार्चित-पादपद्म-
गोष्ठेन्द्र-नन्दन-भुजार्पित-मस्तकायाः ।
हा मोदतः कनकगौरि पदारविन्द-
संवाहनानि शनकैस्तव किं करिष्ये?

(वि॰ कु॰ ७१)

अर्थात् विहारके पश्चात् क्लान्त श्रीमती राधिका श्रीकृष्णकी गोदीमें मस्तक रखकर लेट रही हैं। श्रीकृष्ण अपने सुकोमल, सुगन्धित हस्तकमलोंसे उनके केशोंको धीरे-धीरे सहला रहे हैं—अपनी सुकोमल अङ्गुलियोंसे उलझे हुए केशोंको सुलझा रहे हैं। उस समय श्रीरूपमञ्जरी अपनी ईश्वरीके जिन सुकोमल श्रीचरणोंको अपनी गोदीमें रखकर प्रेमसे सेवा करती हैं, क्या श्रीरूपमञ्जरी इशारेसे मुझे बुलाकर उन्हीं श्रीचरणोंकी सेवामें नियुक्त करेंगी? अहा! ऐसे परम दुर्लभ उनके श्रीचरणोंके सम्वाहनका मुझे कब सुअवसर मिलेगा?

यदि कोई यह शङ्का करता है कि 'व्रजलोक' पदसे श्रीराधा ललितादिको ही ग्रहण किया गया है, तब साधकदेहसे कायिकी सेवा भी श्रीराधा ललितादिके अनुसार ही होनी चाहिये। और यदि ऐसा ही हो, तब श्रीराधा ललितादिने कभी भी श्रीगुरुपदाश्रय, एकादशीव्रत, शालिग्रामसेवा, तुलसीसेवा आदि नहीं की थी। क्योंकि ऐसा कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। इसलिए उन नित्य परिकरोंका अनुसरणकारी हमलोगोंके लिए भी वे अङ्गसमूह करणीय नहीं है। किन्तु उपर्युक्त व्रजलोक पदके द्वारा आधुनिक विरुद्ध मतावलम्बी इन शङ्कावादियोंका यह अपसिद्धान्त भी निरस्त हुआ। श्रीजीव गोस्वामीपादने भी श्रीभक्तिरसामृत-सिन्धु ग्रन्थमें इसी श्लोककी टीकामें ऐसी ही व्याख्याकी है। यथा—'व्रजलोक' शब्दका तात्पर्य श्रीकृष्णके प्रियतमवर्ग एवं तदनुगत श्रीरूप गोस्वामी आदिसे है। अतएव सिद्धदेह द्वारा श्रीरूपमञ्जरी आदि व्रजवासीयोंके अनुसार मानसीसेवा एवं साधकदेह द्वारा

श्रीरूप गोस्वामी आदिका अनुसरणपूर्वक कायिकी सेवा करनी चाहिये।

मुनिचरी गोपियाँ

पद्मपुराणके अनुसार कुछ मुनि दण्डकारण्यमें रहकर गोपालदेवकी उपासना करते थे, किन्तु बहुत दिनों तक उपासना करनेपर भी उनकी अभीष्ट सिद्धि न हुई। सौभाग्यवश श्रीरामचन्द्र वनमें पधारे। उनका मनोहर सौन्दर्य दर्शनकर उन मुनियोंकी कृष्ण-विषयिनी-रति उदित हुई, वे तीव्र उत्कण्ठाके कारण व्याकुल हो गये। उन्होंने मन-ही-मन अभीष्ट सिद्धिके लिए श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें प्रार्थना की। श्रीरामचन्द्रजीने उनके मनोरथको जानकर उन्हें अभीष्ट सिद्धिके लिए वरदान दिया। तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजीकी कृपासे अनुरूप-भजनमें तत्पर होकर भावकी प्राप्तिकर योगमायाके द्वारा दूसरे जन्ममें गोपीके गर्भसे गोपीदेह प्राप्त किया। उनमेंसे कुछ गोपबालिकाएँ नित्यसिद्धा गोपियोंका सङ्ग प्राप्तकर अनायास ही रासमें सम्मिलित हो गयीं और कुछ गोपियाँ जिन्हें नित्यसिद्धा गोपियोंका सङ्ग नहीं मिला, पतियोंके द्वारा उपभुक्त होकर पुत्रवती हुईं, वे अपने पतियों द्वारा रोक लिये जानेके कारण रासमें सम्मिलित न हो सकीं। बादमें वे कृष्णविरहमें तड़फती हुई विरहकी आगसे अपने अशुभोंको तथा ध्यान द्वारा कृष्णको अपने हृदयमें आलिङ्गनकर उस मिलनान्दसे समस्त शुभोंको धोकर साक्षात् रूपमें ही श्रीकृष्णसे रासस्थलीमें मिली थीं।

उपनिषद्‌चरी और श्रुतिचरी

साधारणतः प्रधान-प्रधान श्रुतियों (उपनिषदों) में से कुछ सब प्रकारसे सूक्ष्म विचार सम्पन्न श्रुतियाँ गोपियोंके असमोर्द्ध सौभाग्यका दर्शनकर अत्यन्त विस्मित हुईं। वे गोपियों जैसा सौभाग्य प्राप्त करनेके लिए बड़ी उत्कण्ठाके साथ आराधना करने लगीं। बहुत समयके पश्चात् उनकी आराधनासे प्रसन्न होकर श्रीकृष्णने उन्हें दर्शन दिया। श्रीकृष्णका दर्शनकर उन्होंने अपना मनोऽभीष्ट उनके चरणोंमें निवेदन किया—हे कृष्ण! करोड़ों कामदेवको पराभूत करनेवाले तुम्हारे निखिल सौन्दर्यको देखकर हमारा मन गोपियों जैसे कामिनी भावमें विभावित होकर कामसे मोहित हो रहा है। गोकुलवासिनी गोपियाँ जैसे तुमको रमणबुद्धिसे-कामतत्त्वसे तुम्हारा भजन करती हैं, हम भी तुम्हें उसी भाँति पानेकी उत्कट लालसा रखती हैं, तुम हमारा मनोऽभीष्ट पूर्ण करो।

उनकी प्रार्थना सुनकर श्रीकृष्णने प्रसन्न होकर कहा—"श्रुतियों! तुम्हारा मनोरथ उत्तम है, किन्तु गोपीभावको प्राप्त करना सुदुर्लभ एवं दुर्घट है, फिर भी मेरी कृपासे तुम्हारा यह अभीष्ट दूसरे जन्ममें पूर्ण होगा। मेरी कृपासे तुम लोग जन्मान्तरमें व्रजमें गोपियोंके गर्भसे गोपकन्याओंके रूपमें जन्म ग्रहण करोगी, तत्पश्चात् तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा।"

इस प्रकार जन्मजन्मान्तरों तक कठोर साधनकर प्रकट व्रजमें गोपीदेह प्राप्त करनेवालोंके आचरणके अनुरूप साधन-भजन करनेका निर्देश दिया गया है, फिर

भी परविधि बलवान होनेके कारण श्रीमन् महाप्रभुके विशेष परिकर श्रीरूपरघुनाथ आदि गोस्वामियोंका अनुसरण या आचरण ही रागानुगा साधाकोंके लिए विशेष उपयोगी एवं शीघ्र फलप्रद है॥ ११॥

तानि चार्चनभक्तावहंग्रहोपासना-मुद्रा-न्यास-द्वारकाध्यान-रुक्मिण्यादि-पूजादीन्यागमशास्त्रविहितान्यपि नैव कार्याणि। भक्तिमार्गेऽस्मिन् किञ्चित् किञ्चित् अङ्गवैकल्येऽपि दोषाभाव-श्रवणात्। यदुक्तम्—"यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित्। धावन् निमिल्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह॥" इति॥ "नह्यंगोपक्रमे ध्वंसोमद्भक्तेरुद्धवाण्वपि॥" इति च॥ "अङ्गिवैकल्येत्वस्त्येव दोषः। यान् श्रवणोत्कीर्तनादीन् भगवद्धर्मानाश्रित्य इत्युक्तेः।" "श्रुतिस्मृतिपुराणादि-पञ्च-रात्र-विधिं विना ऐकान्तिकीहरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते।" इत्युक्तेश्च। लोभस्य प्रवर्त्तकत्वेऽपि निजभावप्रतिकूलान्युक्तानि सर्वाणि शास्त्रविहितानांत्यागानौचित्यमितिबुद्धया यदि करोति तदा द्वारकापुरेमहिषीजनपरिजनत्वं प्राप्नोति। यदुक्तम्—"रिरंसां सुष्ठुकुर्वन् यो विधिमार्गेण सेवते। केवलेनैव स तदा महिषीत्वमियात् पुरे॥" केवलेनैव कृत्स्नेनैव न तु निज भावप्रतिकूलान् महिषीपूजादीन् कांश्चित् कांश्चिदंशान् परित्यज्येत्यर्थः। "निर्णीते केवलमिति त्रिलिङ्गन्त्वेककृत्स्नयोः" इत्यमरः॥ केवलेन विधिमार्गेण पुरे महिषीत्वं मिश्रेण मथुरायामिति व्याख्या नोपपद्यते। पुरे यथा महिषीत्वं तथा मथुरायां किं रूपत्वम्? कुब्जापरिकरत्वमिति चेत् केवलवैधीभक्तिफलादपि मिश्रवैधीभक्तिफलस्य अपकर्षः खलु अन्याय एव। "रामानिरुद्धप्रद्युम्नरुक्मिण्या सहितो

विभुः॥" इतिगोपालतापनीश्रुतिदृष्ट्या रुक्मिणीपरिणयो मथुरायामित्यतो रुक्मिणीपरिकरत्वमिति व्याख्या तु न सार्वलौकिकी। राधाकृष्णोपासकः कथं कुब्जां वा रुक्मिणीं वा प्राप्नोति इति द्वितीयश्चान्यायः। वस्तुतस्तु लोभप्रवर्त्तितं विधिमार्गेण सेवनमेव रागमार्ग उच्यते विधिप्रवर्त्तितं विधिमार्गेण सेवनञ्च विधिमार्ग इति। विधिविनाभूतं सेवनन्तु श्रुतिस्मृत्यादि-वाक्यादुत्पातप्रापकमेव॥ १२॥

अनुवाद—अहंग्रहोपासना, न्यास, द्वारकाध्यान, रुक्मिणी आदि महिषियोंकी पूजा इत्यादि विधानोंको अर्चनाङ्गके रूपमें अनुष्ठान करनेकी विधि तन्त्रशास्त्रमें उल्लिखित होनेपर भी, रागानुगा साधकोंको इसका अनुष्ठान करना कर्त्तव्य नहीं है। उस भक्तिसाधन पथमें साधनाङ्गोंकी कुछ-कुछ अङ्गहानि समुपस्थित होनेपर भी, उसमें कोई दोष नहीं होता—शास्त्रोंमें ऐसा ही पाया जाता है। श्रीमद्भागवतके निमि-नवयोगेन्द्र संवादमें कहा गया है—

यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित्।
धावन् निमिल्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह॥
नह्यंगोपक्रमे ध्यंसो मद्भक्तेरुद्धवाण्वपि॥

अर्थात्, "हे राजन्! इस मार्गपर चलनेवाले मनुष्य भागवत्-धर्मका आश्रय अङ्गीकार कर कभी भी विपदग्रस्त नहीं होते। यहाँ तक कि इस मार्गमें आँखें बन्दकर दौड़नेपर भी कोई भक्ति पथसे च्युत नहीं होता।" भगवान् श्रीकृष्णने भी भक्त उद्धवजीको कहा है, "हे उद्धव! मेरी भक्ति-लक्षणवाले इस भक्तिधर्मके अनुष्ठानके आरम्भ

करनेमात्रसे अङ्गवैगुण्यादिका कुछ दोष होनेपर भी इस भक्तिधर्मकी तनिक भी हानि नहीं होती।"

'यान' अर्थात् श्रवणकीर्त्तनादि अङ्गीरूप भागवत्-धर्मका आश्रय करनेपर यदि अङ्गहानि होती है, तो भी कोई दोष नहीं होता। अन्यत्र भी ऐसा कहा गया है—

श्रुतिस्मृतिपुराणादि-पञ्चरात्र-विधिं-बिना ।
ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरूत्पातायैव कल्पते॥
(भ॰ र॰ सि॰ धृत ब्रह्मयामल श्लोक)

अर्थात् श्रुति, स्मृति, पुराण और नारद पञ्चरात्रादि शास्त्रोंमें बतलाये गये लक्षण-विशिष्ट भक्तिका अतिक्रमणकर यदि किसीमें ऐकान्तिक भक्ति दृष्टिगोचर होती है, तो वह भक्ति उत्पातका ही कारण होती है।

यदि कोई साधक (शास्त्र-शासनसे प्रवृत्त न होकर) लोभ-परवश होकर भजनमें प्रवृत्त होनेपर भी अपने भावोंके प्रतिकूल रूपमें कथित द्वारकाध्यान इत्यादि अनुष्ठानोंको इसलिए करता है कि शास्त्रविहित कर्मोंका परित्याग करना उचित नहीं है, क्योंकि शास्त्रोंमें ऐसा ही निर्देश है। तब ऐसे साधकको सिद्धि होनेपर द्वारकापुरीमें महिषियोंका परिजनत्व प्राप्त होगा। इस विषयमें शास्त्र ही प्रमाण हैं—

रिरंसां सुष्ठु कुर्वन् यो विधिमार्गेन सेवते।
केवलेनैव स तदा महिषित्वमियात् पुरे॥
(भ॰ र॰ सि॰ १/२/३०३)

अर्थात् जो उत्कृष्ट रमणाभिलाष करके भी केवलमात्र

विधिमार्गसे ही सेवा करते हैं, वे द्वारकापुरीमें महिषियोंके परिकर होते हैं। यहाँ इस श्लोकमें उक्त 'केवल' शब्दका अर्थ 'कृत्स्त्रेनैव' अर्थात् अपने भावके प्रतिकूल द्वारका-धामवाली महिषियोंकी पूजा प्रभृति कोई-कोई अंश परित्याग न कर सर्वतोभावेन केवल विधिमार्गका साधन करनेपर द्वारकाकी महिषियोंके परिकरत्वकी प्राप्ति होती है। अमरकोषमें भी 'केवल' शब्दका अर्थ केवल बतलाया गया है। केवलमात्र विधिमार्गके अनुसार साधन करनेपर द्वारकापुरीमें महिषियोंके दासीत्वकी प्राप्ति होती है तथा रागमार्गके लिए बतलाये गये साधनोंके सहित विधिमार्गके साधनोंको मिलाकर मिश्रित अनुष्ठान करनेसे मथुराधाममें महिषियोंका दासीत्व प्राप्त होता है—यदि इस प्रकारसे कोई व्याख्या करता है, तो वह किसी प्रकार भी युक्तिसङ्गत नहीं कही जा सकती। क्योंकि ऐसी व्याख्यामें नाना प्रकारके प्रश्न उठते हैं। पहला प्रश्न यह है कि द्वारकापुरीमें महिषीत्व कहनेसे जैसे रुक्मिणी, सत्यभामा इत्यादिका परिकर होना समझा जाता है, उसी प्रकार मथुरामें महिषीत्वसे क्या समझना होगा? यदि इस प्रश्नके उत्तरमें यह कहा जाय कि मथुराधाममें महिषीत्वका तात्पर्य कुब्जादेवीके परिकरत्व प्राप्तिसे है। तो ऐसा कहना सर्वथा असङ्गत होगा। क्योंकि रुक्मिणी प्रभृति महिषियोंसे कुब्जाकी रस-विचारसे न्यूनता रस-शास्त्रोंमें देखी जाती है। यदि केवल वैधीभक्तिके अनुष्ठानके द्वारा द्वाराकामें रुक्मिणी आदिका परिकरत्व और रागमार्ग-मिश्रित वैधीभक्तिके द्वारा मथुरामें कुब्जाका परिकरत्व मिलता है,

तब इसके द्वारा केवल वैधीभक्तिके फलसे रागानुगामिश्रित वैधीभक्तिके फलकी अपकर्षता सम्पादित होती है, किन्तु यह घोर अन्याय है। इसमें कोई भी सन्देहकी बात नहीं। यदि कहो कि "विभु श्रीकृष्ण श्रीबलदेवचन्द्र, श्रीअनिरुद्ध, श्रीप्रद्युम्न और श्रीरुक्मिणीदेवीके साथ मथुराधाममें नित्य विराजमान रहते हैं"—गोपालतापनीके इस प्रमाणके अनुसार श्रीरुक्मिणीदेवीका विवाह मथुरामें ही हुआ है तथा रुक्मिणीदेवी आदि परिकरोंके साथ श्रीकृष्ण मथुरामें भी सदैव विराजमान रहते हैं। अतएव रागमिश्रित वैधीभक्तिके फलस्वरूप मथुरामें महिषीत्वका तात्पर्य रुक्मिणीके परिकरत्वसे है, ऐसी व्याख्या भी युक्तिसङ्गत नहीं होती। क्योंकि मथुरामें रुक्मिणीदेवीका विवाह सर्वजनानुमोदित नहीं है। कोई भी साधक राधाकृष्णकी उपासना कर कुब्जा या रुक्मिणीदेवीका किसलिए परिकरत्व प्राप्त करेगा? यह भी एक दूसरे प्रकारका अन्याय है। यथार्थतः लोभहेतु प्रवृत्त होकर विधिमार्गके अनुसार सेवाको ही रागमार्ग कहते हैं और शास्त्रके द्वारा प्रवृत्त होकर विधिमार्गके अनुसार सेवाको विधिमार्ग कहते हैं। विधिके बिना श्रीकृष्णाकी सेवाको नारदपञ्चरात्रमें उल्लिखित 'श्रुतिस्मृतिपुराणादि' प्रमाणके द्वारा उत्पातका ही कारण कहा गया है॥ १२॥

श्रीचन्द्रिका-चकोर-वृत्ति

अहंग्रहोपासना, मुद्रा, न्यास, द्वारकाध्यान, रुक्मिणी प्रभृति महिषियोंकी पूजा आदि विधियोंका तन्त्रशास्त्रमें

उल्लेख रहनेपर भी रागानुगा साधकोंके लिए उनका अनुष्ठान करना कर्त्तव्य नहीं है। यहाँ अहंग्रहोपासनाका तात्पर्य "मैं ही ब्रह्म हूँ" ऐसी उपासनासे है। अर्थात् रागानुगा साधक अपने अभिलषित सुबल, श्रीदामादि सखा, नन्दयशोदा मातापिता तथा ललिताविशाखा, रूपमञ्जरी प्रभृति व्रजरमणियोंके भावोंमेंसे जिनके प्रति अपना लोभ हो, उनके आनुगत्यमें उनके जैसे भावोंका स्मरणकर साधन भजन करना चाहिये। "मैं सुबल-श्रीदाम सखा हूँ", "मैं यशोदा हूँ" और "मैं ललिता हूँ" ऐसी भावना नहीं होनी चाहिये। ऐसी उपासना अहंग्रहोपासना कहलाती है। ऐसी उपासनाका ही यहाँ निषेध किया गया है। कुछ-कुछ अर्वाचीन नामधारी साधक अपनेको ललिता, विशाखा, नन्द-यशोदा मान लेते हैं। पुरुष-शरीरको ही स्त्रीवेशमें सज्जितकर स्त्रीयोचित अलङ्कार धारणकर अपनेको ललिता सखी कहते हैं, किन्तु ऐसा करना निषिद्धाचार और अनाचार है। ऐसे लोग गौड़ीय वैष्णवोंके नामपर कलङ्क स्वरूप हैं।

शास्त्रोंमें षडङ्गन्यास, पीठन्यास, अङ्गन्यास, करन्यास, आदि अनेकों प्रकारके न्यासोंका वर्णन पाया जाता है। रागानुगा भक्तिमें भावके प्रतिकूल होनेके कारण इनका भी निषेध किया गया है।

द्वारकापुरीका ध्यान तथा महिषियोंकी पूजा ऐश्वर्य प्रधान है। श्रीकृष्ण कभी-कभी वहाँ चतुर्भुज रूपमें विराजते हैं तथा शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म धारण करते हैं। उनकी वेशभूषा भी राजराजेश्वरों जैसी होती है। श्रीकृष्ण

और उनके परिकरोंमें क्षत्रियका अभिमान होता है। राजमहिषियोंमें भी ऐश्वर्ययुक्त क्षत्रियाणी अर्थात् राजरानीका महदैश्वर्य विराजमान रहता है। वे वेदविधियोंसे श्रीकृष्णकी विवाहित पत्नियाँ हैं। इनकी प्रीति समञ्जसा कोटिकी होती है। इनमें प्रीति संकुचित होती है, किन्तु व्रजके कृष्ण नवकिशोर-नटवर-गोपवेश-वेणुकर तथा उनके अन्तरङ्ग परिकर भी व्रजके गोप और गोपियाँ हैं। गोपरमणियोंमें समञ्जसासे भी उर्ध्व समर्थारति होती है। इसलिए रागानुगा भक्ति साधकोंके लिए उपर्युक्त शास्त्र-विधियाँ निषिद्ध हैं।

रागानुगा भक्तिमें श्रवण-कीर्त्तनादि अङ्गीरूप भागवत-धर्मका आश्रय करनेसे यदि अङ्गहानि होती है, तो अङ्गवैगुण्य दोष नहीं होता। यहाँ एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि श्रवणकीर्त्तनादि नवधाभक्ति अथवा साधुसङ्ग, नामकीर्त्तन, भागवत-श्रवण, व्रजमें वास एवं श्रीविग्रहसेवा—ये पञ्च प्रकारके भक्त्यङ्ग अथवा श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण, ये भक्तिके प्रधान अङ्ग होते हुए भी अङ्गी हैं। अथवा मुख्य साधन होते हुए भी साध्य हैं, किन्तु उपरोक्त न्यास, मुद्रा, द्वारकाध्यान आदि अङ्गीरूप साधन नहीं हैं। ये अर्चनरूपी प्रधान अङ्गके अङ्ग हैं। इसलिए रागानुगा भक्तिमें भावके प्रतिकूल होनेके कारण इन अङ्गोंका वर्जन करनेसे कोई हानि नहीं होती—यह बात ठीक है, किन्तु मुख्य साधन मुख्याङ्ग या अङ्गी होनेके कारण इसका त्याग करनेपर दोष होता है। विशेषकर श्रवण, कीर्त्तन और स्मरणादि अङ्गी भक्तिसाधनोंमें अत्यधिक निमग्न रहनेके कारण अन्यान्य अङ्गोंके प्रति

कुछ शिथिलता लक्षित होनेपर दोष नहीं लगता।

कुछ लोगोंकी यह भ्रान्त धारणा है कि वेदशास्त्रमें निर्दिष्ट विधियोंके पालन की कोई आवश्यकता नहीं है, यहाँ तक कि श्रीमद्भागवत जैसे सर्वप्रमाण शिरोमणि ग्रन्थको भी माननेकी आवश्यकता नहीं है। मनमाने ढङ्गसे आत्यन्तिकी या अनन्या भक्ति करनेसे ही रसिक भक्त बना जा सकता है। इसी धारणाके कारण अनिवार्य पालनीय एकादशी व्रत, गुरुपदाश्रय, कार्त्तिक व्रत तथा श्रीमद्भागवतमें वर्णित भावोंको भी परित्यागकर बड़े गर्वसे अपनेको रसिक एवं रागमार्गी होनेका अभिमान करते हैं। इसीलिए यहाँ भक्तिरसामृतसिन्धुके 'श्रुतिस्मृतिपुराणादि' श्लोककी अवतारणा की गयी है॥ १२॥

अथ रागानुगाया अङ्गान्यन्यानि भजनानि कानि कीदृशानि किं स्वरूपाणि कथं कर्त्तव्यानि अकर्त्तव्यानि वेत्यपेक्षायामुच्यते। स्वाभीष्टभावमयानि, स्वाभीष्टभावसम्बन्धीनि, स्वाभीष्टभावानुकूलानि, स्वाभीष्टभावाविरुद्धानि, स्वाभीष्टभावविरुद्धानि, इति पञ्चविधानि भजनानि शास्त्रे दृश्यन्ते। तत्र कानिचित् साध्यसाधनरूपाणि, कानिचित् साध्यं प्रेमाणं प्रति उपादानकारणानि, कानिचित् निमित्तकारणानि, कानिचित् भजनचिह्नानि, कानिचिदुपकारकाणि, कानिचित् अपकारकाणि, कानिचित्तटस्थानि, इति। एतानि विभाज्य दर्श्यन्ते॥ १३॥

अनुवाद—अनन्तर रागानुगा भक्तिमें कौन-कौनसे अङ्ग भजनीय हैं, वे अङ्ग कौन-कौनसे हैं, उनके कितने प्रकार

हैं, उनका स्वरूप क्या है, कर्त्तव्य क्या है और अकर्त्तव्य क्या है—इस पूर्वपक्षको ध्यानमें रखकर कह रहे हैं, शास्त्रमें पाँच प्रकारके भजनानुष्ठान दृष्टिगोचर होते हैं—(१) स्वाभीष्ट भावमय, (२) स्वाभीष्ट भावसम्बन्धी, (३) स्वाभीष्ट भावानुकूल, (४) स्वाभीष्ट भावाविरुद्ध और (५) स्वाभीष्ट भावविरुद्ध। (यहाँ स्वाभीष्टका तात्पर्य साधकके अपने अभिलषित भावसे है।) इनमेंसे कुछ साध्य और साधन उभय प्रकारके हैं। (अर्थात् साधनमें जैसे हैं, साध्यमें भी वैसे ही हैं। केवल पक्व और अपक्व अवस्थाका भेदमात्र है) और कुछ साध्यप्रेमके उपादान-कारण-स्वरूप हैं, कुछ निमित्त-कारण-स्वरूप हैं, कुछ भजनके चिह्न-स्वरूप हैं, कुछ उपकारक हैं, कुछ अपकारक हैं तथा कुछ तटस्थ अर्थात् उपकारक या अपकारक या कुछ भी नहीं हैं। इन सबको विभागपूर्वक दिखलाया जा रहा है॥ १३॥

तत्र दास्यसख्यादीनि स्वाभीष्ट भावमयानि, साध्य-साधनरूपाणि। गुरुपादाश्रयतो मन्त्रजपध्यानादीनि साध्य प्रत्युपादानकारणत्वाद्भावसम्बन्धीनि "जपेन्नित्यमनन्यधीः" इत्याद्युक्ते नित्यकृत्यानि, "जप्यः स्वाभीष्टसंसर्गी कृष्णनाममहामनुः" इति गणोद्देशदीपिकोक्तेः, सिद्धरूपेणानुगम्यमानानामपि मन्त्रजपदर्शनात् उपादानकारणत्वेन भावसम्बन्धीनि "गाः सर्वेन्द्रियाणि विन्दन् एव सन् मम गोपस्त्रीजनवल्लभो भवत्यभीष्टसंसर्गि कृष्णनाम एव महामनुः सर्वमन्त्रश्रेष्ठ इत्यष्टादशाक्षरो दशाक्षरश्च मन्त्र एव अर्थादुक्तो भवतीति गणोद्देशदीपिकावाक्यार्थो ज्ञेयः। स्वीयभावोचितनामरूपगुण-

लीलादिस्मरणश्रवणादीनि उपादानकारणत्वात् भावसम्बन्धीनि। तथाहि—"नामानि रूपाणि तदर्थकानि गायन् विलज्जो विचरेदसङ्ग" इति। "शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः, स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जना" इत्याद्युक्तेरभीक्ष्णकृत्यानि। अत्र रागानुगायां यमुख्यस्य तस्यापि स्मरणस्य कीर्तनाधीनत्व-मवश्यं वक्तव्यमेव कीर्तनस्यैव एतद्युगाधिकारत्वात् सर्वभक्ति-मार्गेषु सर्वशास्त्रैस्तस्यैव सर्वोत्कर्षप्रतिपादनाच्च। "तपांसि श्रद्धया कृत्वा प्रेमाढ्याजज्ञिरे व्रजे" इत्युज्ज्वलनीलमण-युक्तेरनुगम्यमानानां श्रुतीनां प्रेमाणं प्रति तपसां कारणत्वावगमात् कलावस्मिन् तपोऽन्तरस्य विगीतत्वात् "मदर्थं यद्व्रतं तपः" इति भगवदुक्तेरेकादशी-जन्माष्टम्यादिव्रतानि तपोरूपाणि इति निमित्तकारणानि नैमित्तिककृत्यानि अकरणे प्रत्यवाय-श्रवणान्नित्यानि। तत्रैवैकादशीव्रतस्यान्वये "गोविन्दस्मरणं नृणां यदेकादश्युपोषणम्" इतिस्मृतेरुपादानकारणस्मरणस्य लाभादंशेन भावसम्बन्धित्वमपि, व्यतिरेके तु "मातृहा पितृहा चैव भ्रातृहा गुरुहा तथा" इत्यादि स्कान्दादिवचनेभ्यो गुरु-हन्तृत्वादिश्रवणान्नामापराधलाभः "ब्रह्मघ्नस्य सुरापस्य स्तेयिनो गुरुतल्पिनः" इति विष्णुधर्मोत्तरोक्तेरनपायिपापविशेषलाभश्च, इति निन्दाश्रवणादत्यावश्यककृत्यत्वम्। किं बहुना, "परमापद-मापन्ने हर्षे वा समुपस्थिते। नैकादशीं त्यजेद्यस्तु तस्य दीक्षास्ति वैष्णवी। विष्णवार्पिताखिलाचारः स हि वैष्णव उच्यते।" इति स्कान्दवाक्याभ्यामेकादशीव्रतस्य वैष्णव-लक्षणत्वमेव निर्दिष्टम्। किञ्च वैष्णवानां भगवद-निवेदितभोजननिषेधाः,"वैष्णवो यदि भुञ्जीत एकादश्यां प्रमादतः" इत्यत्र भगवन्निवेदितान्नस्यैव भोजन निषेधोऽवगम्यते।

कार्त्तिकव्रतस्य च तपोऽशेन निमित्तत्वं श्रवणकीर्त्तनाद्यंशेन उपादानत्वमपि। श्रीरूपगोस्वामिचरणानामसकृदुक्तौ कार्त्तिकदेवतेति कार्त्तिकदेवीत्यूर्जदेवीति उर्जेश्वरीति श्रवणाद्विशेषतः श्रीवृन्दावनेश्वरीप्रापकत्वमवगम्यते। "अम्बरीष शुकप्रोक्तं नित्यं भागवतं शृणु" इतिस्मृतेः क्रमेण श्रीभागवतश्रवणादेर्नित्य-कृत्यत्वमुक्तम्। "कथा इमास्ते कथिता महीयसाम्" इत्यनन्तरं "यस्तूत्तमश्लोकगुणानुवादः प्रस्तूयते नित्यममङ्गलघ्नः तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः॥ इति द्वादशोक्ते र्दशमस्कन्धसम्बन्धिस्वप्रेष्ठ श्रीकृष्णचरित-श्रवणादेर्यथायोग्यं नित्यकृत्यत्वम् अभीक्ष्णकृत्यत्वं भाव-सम्बन्धित्वञ्च। निर्माल्यतुलसीगन्धचन्दनमाला-वसनादिधारणानि भावसम्बन्धीनि। तुलसीकाष्ठमालागोपीचन्दनादि-तिलकनाममुद्रा-चरणचिह्नादिधारणानि वैष्णव चिह्नान्यनुकूलानि। तुलसीसेवनपरिक्रमणप्रणामादीन्यप्यनुकूलानि। गवाश्वत्थ-धात्रीब्राह्मणादिसम्मानानि तद्भावाविरुद्धानि उपकारकाणि। वैष्णवसेवा तूक्तसमस्तलक्षणवती ज्ञेया। उक्तान्येतानि सर्वाणि कर्त्तव्यानि। यथैव पोष्यात् कृष्णादपि सकाशात् तत्पोषकेष्वावर्त्तितदुग्धदधिनवनीतादिषु व्रजेश्वर्या अधिकैवापेक्षा, श्रीकृष्णं स्वस्तन्यपयः पिवन्तं वुभुक्षुमप्यपहाय तदीयदुग्धो-त्तारणार्थं गतत्वात्। तथैव रागवर्त्मानुगमनरसाभिज्ञभक्तानां पोष्येभ्यः श्रवणकीर्तनादिभ्योऽपि तत्पोषकेष्वेतेषु सर्वेषु परमैवापेक्षणं नैवानुचितम्। अहंग्रहोपासनान्यासमुद्राद्वारकाध्यान-महीष्यर्चनादीन्यपकारकाणि न कर्त्तव्यानि। पुराणान्तरकथा-श्रवणादीनि तटस्थानि। अत्र भक्तेः सच्चिदानन्द-रूपत्वान्निर्विकारत्वेऽपि यदुपादानत्वादिकं तत् खलु

दुर्वितर्क्यत्वादेव, भक्तिशास्त्रेषु "तत्र प्रेमविलासाः स्यु र्भावाः स्नेहादयस्तु षट्" इत्यादिषु विलासशब्देन व्यञ्जितं, यथा रसशास्त्रे, विभावादिशब्देन, अत्र खलु सुखवोधार्थमेव उपादानादिशब्द एव प्रयुक्त इति क्षन्तव्यं सद्भिः॥ १४॥

अनुवाद—दास्य, सख्य, वात्सल्य प्रभृतिको स्वाभीष्ट भावमय कहते हैं। दास्य, सख्य, वात्सल्यादि भावमय श्रवण-कीर्त्तनादि भजनसमूह साधकोंके प्रेमतरुका पोषण करते हैं। अतः इन्हें भावमय साधन कहा जाता है और प्रेमके प्रादुर्भाव होनेपर वह श्रवण-कीर्त्तनादि भावमय साध्य कहलाते हैं। इसलिए ये भजनसमूह साध्य और साधन दोनों रूप हैं।

श्रीगुरुपदाश्रयसे लेकर मन्त्रजप ध्यानादि तक कतिपय भजनानुष्ठान साध्यप्रेमके उपादान कारण होनेके कारण भावसम्बन्धी कहलाते हैं। "जपेन्नित्यमनन्यधीः"—(प्रतिदिन अनन्यचित्तसे जप करना चाहिये) इत्यादि शास्त्रयुक्ति हेतु नित्यकृत्यसमूह तथा "जप्यः स्वाभीष्ट संसर्गी कृष्णनाम-महामनुः"—(निज-अभीष्ट-संसर्गी कृष्णनाम महामन्त्रका जप करना कर्त्तव्य है) गणोद्देशदीपिकाकी इस युक्तिके अनुसार सिद्धरूपमें जिनका अनुसरण किया जाता है, उन्हें मन्त्रजपके निर्देशको उपादान कारण होनेसे श्रीकृष्णनाम-जप-कीर्त्तनको भावसम्बन्धी समझना चाहिये। यहाँ स्वाभीष्ट संसर्गी कृष्णनाम महामन्त्र किसे कहते हैं? इसे बतलाते हैं—

इसका गणोद्देशदीपिकामें इस प्रकार अर्थ किया गया है—'गोविन्द' शब्दसे मेरी गो अर्थात् इन्द्रियोंमें व्याप्त

होकर गोपीजनवल्लभ अर्थात् "गोपीजन वल्लभ भवति" अर्थात् गोपीजनवल्लभ मेरी समस्त इन्द्रियोंमें व्याप्त होकर विराजमान हैं। इसलिए निज-अभीष्ट-सम्बन्धी कृष्णानाम ही महामन्त्र है। इस अर्थके द्वारा अष्टादशाक्षर ही श्रेष्ठ-मन्त्र कहे गये हैं। अपने भावोपयोगी श्रीकृष्णके नाम-रूप-गुण-लीला प्रभृतिके श्रवणकीर्त्तनादि साधनसमूहको भी (उपादान-कारण होनेसे) भावसम्बन्धी कहते हैं।

नामानि रूपानि तदर्थकानि गायन्
विलज्जो विचरे दसङ्ग
शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः॥

अर्थात् लज्जादिका भलीभाँति परित्यागपूर्वक सङ्गरहित होकर, श्रीकृष्ण अर्थ प्रकाशक नाम और रूप-माधुर्यका कीर्त्तन करते हुए विचरण करना चाहिये और भक्तजन तुम्हारे चरित्रका निरन्तर श्रवण, कीर्त्तन और स्मरणकर परमानन्द लाभ किया करते हैं। इन शास्त्रीय प्रमाणोंके अनुसार उपर्युक्त भावसम्बन्धी साधनसमूह निरन्तर कर्त्तव्य रूपमें निर्धारित किये गये हैं।

पहले जो रागानुगा भक्तिमें स्मरणको मुख्य अङ्ग बतलाया गया है—उसे कीर्त्तनके अधीन समझना चाहिये। वर्त्तमान कलियुगमें कीर्त्तनाङ्ग भजनका ही अधिकार है। क्योंकि भक्तिके समस्त अङ्गोंमें कीर्त्तनाङ्ग ही उत्कर्षयुक्त एवं सर्वश्रेष्ठ है—ऐसा समस्त शास्त्रोंमें प्रतिपादित किया गया है।

श्रीउज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थमें ऐसा कहा गया है "गोपियोंके भावोंका अनुगमन करनेवाली श्रुतियोंने श्रद्धायुक्त होकर तपस्या करके पूर्ण-प्रेमको लाभकर व्रजमें जन्म ग्रहण किया था।" इस प्रमाणानुसार गोपी जातीय प्रेम प्राप्तिके कारणके रूपमें तपस्याको देखा जाता है। यहाँ तपस्याका तात्पर्य एकादशी, जन्माष्टमी प्रभृति व्रतसमूहको समझना चाहिये। क्योंकि वर्त्तमान कलियुगमें अन्य प्रकारकी तपस्या निन्दनीय है। भगवान्ने स्वयं ऐसा कहा हैं, "मेरे लिए कृत्-व्रत ही तपस्या है।" इसलिए एकादशी, जन्माष्टमी आदि तपरूप निमित्त-कारण हैं। इन नैमित्तिक कृत्योंके अकरणमें दोष सुना जाता है। अतः इनकी भी नित्यता समझनी चाहिये। स्मृतिशास्त्रमें एकादशी व्रतके सम्बन्धमें ऐसा लिखा गया है—एकादशीमें उपवास करना ही गोविन्द-स्मरण करना है। इस प्रमाणके अनुसार उपादान-कारणरूप स्मरणाङ्गकी प्राप्तिके लिए एकादशी आदि व्रतोंका आंशिक रूपमें भावसम्बन्धित्व भी देखा जाता है। (भावसम्बन्धी स्मराणाङ्गमें सहायक होनेके कारण एकादशी और जन्माष्टमी आदि व्रतको भी आंशिकरूपमें भावसम्बन्धी कहा जाता है।) निषेध पक्षमें—जो लोग एकादशी व्रत नहीं करते उन्हें मातृवध, पितृवध, भ्रातवध और गुरुवध आदिका पाप लगता है। स्कन्दपुराणके इस प्रमाणके अनुसार एकादशी आदि व्रतोंके अकरणसे नामापराध भी होता है। विष्णुधर्मोत्तरमें भी ऐसा देखा जाता है—ब्रह्महत्याकारी, मद्यपायी, अपहरणकारी, गुरुपत्नी-गामीका धर्मशास्त्रके अनुसार प्रायश्चित्त देखा जाता है,

किन्तु एकादशीमें अन्न भोजन करनेवालेको अविनाशी पापकी प्राप्ति होती है, जिसका कहीं कोई प्रायश्चित्त भी नहीं है। इसलिए एकादशी व्रत एक आवश्यक प्रमाणित कृत्य है। ऐसे आवश्यक कृत्यकी नित्यता स्वतः स्वीकृत है। स्कन्दपुराणमें तो यहाँ तक उल्लेख है कि "घोरविपत्ति अथवा परमानन्द उपस्थित होनेपर भी जो लोग एकादशी व्रतका त्याग नहीं करते, उन्हीं लोगोंकी वैष्णवी दीक्षा यथार्थ है। और जो लोग अपने समस्त कर्मोंको विष्णुके चरणोंमें समर्पण करते हैं, वे यथार्थ वैष्णव हैं। इस प्रकार स्कन्दपुराणके दोनों प्रमाण वाक्योंसे यह सिद्ध है कि वैष्णवमात्रको एकादशी व्रत अवश्य करना चाहिये। और भी जो वस्तुएँ भगवान्‌को अनिवेदित हैं, उनका भोजन वैष्णवोंके लिए सर्वथा निषिद्ध है। इसके अतिरिक्त वैष्णव यदि प्रमादवशतः एकादशीके दिन भोजन करते हैं—इस वचनके द्वारा यह गूढ़ रहस्य है कि वैष्णवलोग तो भगवन्निवेदित महाप्रसाद ही भोजन करते हैं, अतः एकादशीके दिन उस महाप्रसाद भोजनका भी यहाँ निषेध किया गया है।

कार्त्तिक व्रत भी तपस्याके अंशमें निमित्त-कारण है तथा श्रवणकीर्त्तनादि अंशमें उपादान-कारण है। श्रीरूप गोस्वामीचरणने अनेकानेक स्थलोंमें कार्त्तिक देवता, ऊर्जादेवी और ऊर्जेश्वरी आदि नामोंका उल्लेख किया है। विशेषतः कार्त्तिक व्रतके पालनसे वृन्दावनेश्वरी श्रीमती राधिकाकी प्राप्ति होती है। अतः कार्त्तिकव्रत अवश्य करणीय है। "हे अम्बरीष! शुकके द्वारा कहे गये भागवतका नित्य

श्रवण करें।" स्मृतिके इस वचनसे श्रीमद्भागवतका श्रवण भी नित्यकृत्यके रूपमें सिद्ध है। "मैंने तुम्हारे निकट महापुरुषोंकी इन कथाओंका कीर्त्तन किया तथा नित्य अमङ्गल नाशक उत्तमश्लोक भगवान्‌का गुणानुवाद श्रीकृष्णके चरणोंमें विशुद्ध भक्ति लाभ करनेके अभिलाषी व्यक्तिको प्रतिदिन निरन्तर श्रवण करना चाहिये"—द्वादश स्कन्धकी इन उक्तियोंके अनुसार दशम स्कन्ध सम्बन्धी अपने प्रियतम श्रीकृष्णके चरित्र श्रवणादिका यथायोग्य नित्य-निरन्तरकृत्यत्व और भावसम्बन्धीत्व सिद्ध है।

निवेदित तुलसी, गन्ध, चन्दन, माला और वस्त्रादि धारण—भावसम्बन्धी हैं। तुलसी काष्ठकी माला, गोपीचन्दन आदिका तिलक, नामचिह्न, चरणचिह्न आदि वैष्णवचिह्न धारण भावानुकूल हैं। तुलसी-सेवा, परिक्रमा और प्रमाणादि भी भावानुकूल हैं। गो, अश्वत्थ (पीपल), आँवला और ब्राह्मणादिका सम्मान करना प्रभृति अङ्गसमूह उपकारी होनेके कारण भाव अविरुद्ध कहलाते हैं। वैष्णवसेवा उपरोक्त समस्त लक्षण-विशिष्ट है अर्थात् ऊपर कहे गये चारों प्रकारके भजनानुष्ठानमें करणीय हैं। उपर्युक्त सभी अनुष्ठान कर्त्तव्य रूपमें ग्रहणीय हैं, जिस प्रकार पोष्य श्रीकृष्णसे भी अधिक तत्पोषक औंटाये हुए दुग्ध, दधि, मक्खन आदिमें मैया यशोदाका (रक्षा आदिके विषयमें) अधिक आग्रह देखा जाता है। वे पुत्र कृष्णको स्तन पान करा रही थीं कि बीचमें ही अतृप्त कृष्णको छोड़कर चूल्हेपर उफनते हुए दुग्धको उतारनेके लिए चली गयीं। उसी प्रकार रागमार्गका अनुगमन करनेवाले रसाभिज्ञ

भक्तवर्गके सम्बन्धमें पोष्य श्रवणकीर्त्तनादिसे भी तत्पोषक उक्त अङ्गोंमें विशेष आग्रह होना अनुचित नहीं कहा जा सकता।

अहंग्रहोपासना, न्यास, मुद्रा, द्वारकाध्यान और महिषीवर्गका अर्चन आदि रागमार्गके साधनमें अपकारक होनेके कारण वर्जनीय है। श्रीमद्भागवतके अतिरिक्त अन्यान्य पुराणोंकी कथाओंका श्रवण प्रभृति तटस्थ अर्थात् उपकारक या अपकारक कुछ भी नहीं हैं। सच्चिदानन्द स्वरूपा भक्तिका विकार नहीं रहनेपर भी उसे उपादान रूपा आदि कहा जाता है। वह केवल दुर्बोध विषयको सहज रूपमें बोध करानेके लिए कहा जाता है। रसशास्त्रमें जैसे रसको विभावादि शब्दोंके द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है। यहाँपर भी उसी प्रकार इस विषयको सरल करनेके लिए उपादान आदि शब्दोंका प्रयोग किया जाता है। साधुजन इसके लिए क्षमा करें॥ १४॥

श्रीचन्द्रिका-चकोर-वृत्ति

भक्तिसन्दर्भमें श्रीलजीव गोस्वामी कहते हैं—"अतएव यद्यन्यापि भक्तिः कलौ कर्त्तव्या तदा तत्संयोगे नैवेत्युक्तम्॥" अर्थात् कलियुगमें यदि भक्तिके किसी दूसरे अङ्गका अनुष्ठान करना भी हो, तो हरिनाम-सङ्कीर्त्तनके संयोगसे ही करना कर्त्तव्य है।

श्रीलसनातन गोस्वामीजीने भी हरिनाम-सङ्कीर्त्तनको स्मरणादि भक्ति अङ्गोंमें सर्वश्रेष्ठ बतलाया है—

मन्यामहे कीर्त्तनमेव सत्तमं
लोलात्मकैक स्वहृदि स्फुरत्स्मृतेः।
वाचि स्वयुक्ते मनसि श्रुतौ तथा
दीव्यत् परानप्युपकुर्वदात्मवत्॥

(बृ॰ भा॰ २/३/१४८)

अर्थात् हम लोगोंके विचारसे चञ्चल-स्वभाव और एकमात्र अपने हृदयमें स्फूर्ति प्राप्त स्मरणकी अपेक्षा कीर्त्तन श्रेष्ठ है। क्योंकि कीर्त्तन वागिन्द्रियमें स्फुरित होकर स्वयं ही मनको भी अपने रङ्ग-में-रङ्ग देता है। वही कीर्त्तन ध्वनि अन्तमें श्रवणेन्द्रियको भी कृतार्थ कर देती है। इतना ही नहीं, आत्माकी भाँति अपने सेवक श्रोताओंको भी कृतार्थ करती है।

स्मरणमें ऐसी शक्ति नहीं है। इसलिए वायुसे भी अधिक चञ्चल मनको वशीभूत करनेमें एकमात्र कीर्त्तन ही समर्थ है। साथ ही कीर्त्तनाङ्गके बिना मन भी स्मरण करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। कीर्त्तनके अतिरिक्त किसी भी उपायसे चञ्चल मनको स्थिर नहीं किया जा सकता। यही श्रीलसनातन गोस्वामीके इस श्लोकका गूढ़ तात्पर्य है।

श्रीकृष्णके नाना प्रकारके कीर्त्तनोंमें कृष्णनामकीर्त्तन ही सर्वश्रेष्ठ एवं परमसेव्य है। कृष्णनाम-सङ्कीर्त्तनके द्वारा साधकोंके हृदयमें बहुत शीघ्र ही श्रीकृष्णप्रेमरूप सम्पत्ति आविर्भूत होती है। श्रीनामसङ्कीर्त्तन स्वयं ही अन्यान्य निरपेक्ष रूपमें प्रेमसम्पत्ति उत्पादनमें समर्थ है। इसीलिए स्मरणादि समस्त अङ्गोंमें श्रीनामसङ्कीर्त्तन ही श्रेष्ठतम है।

श्रीनामसङ्कीर्त्तन साधन एवं साध्य दोनों हैं। यही श्रीलसनातन गोस्वामी एवं प्रेमी-वैष्णवाचार्योंका सिद्धान्त है—

कृष्णस्य नानाविध-कीर्त्तनेषु
तन्नाम-सङ्कीर्त्तनमेव मुख्यम्।
तत्प्रेमसम्पज्जनने स्वयं द्राक
शक्तं ततः श्रेष्ठतमं मतं तत्॥

(बृ॰ भा॰ २/३/१५८)

द्वितीयः प्रकाशः

ननु "न हानिं न ग्लानिं न निजगृहकृत्यं व्यसनितां न घोरं नोदघूर्णां न किल कदनं वेत्ति किमपि। वराङ्गीभिः स्वाङ्गीकृतसुहृदनङ्गाभिरभितो, हरि र्वृन्दारण्ये परमनिश-मुच्चैर्विहरति॥" इत्यादिभ्य एव श्रीवृन्दावनेश्वर्यादि-प्रेमविलासमुग्धस्य श्रीव्रजेन्द्रसूनो र्न क्वापि अन्यत्रावधानसम्भव इत्यवसीयते। तथा सति नानादिग् देशवर्त्तिभिरनन्तरागानुगीयभक्तैः क्रियमाणं परिचर्यादिकं केन स्वीकर्त्तव्यम्? विज्ञप्तिस्तवपाठादि-कञ्च केन श्रोतव्यम्? तदंशेन परमात्मनैवांशांशि नोरैक्यादितिचेत् समाधिरयं सम्यगाधिरेव तादृशकृष्णानुरागि-भक्तानाम्। तर्हि का गतिः?—साक्षात् श्रीमदुद्धवोक्तिरेव। सा च यथा—"मन्त्रेषु मां वा उपहूय यत्त्वमकुण्ठिताखण्ड-सदात्मबोधः। पृच्छेः प्रभो मुग्ध इवाप्रमत्तस्तन्मे मनो मोहयतीव देव॥" अस्यार्थः-मन्त्रेषु जरासन्धवधराजसूयाद्यर्थगमनविचारादिषु प्रस्तुतेषु मां वै निश्चितम् उपहूय यत् पृच्छेः उद्धव त्वमत्र किं कर्त्तव्यं तद् ब्रूहि इति पृच्छेः अपृच्छः अकुण्ठित कालादिना अखण्डः परिपूर्ण सदा सार्वदिक एव आत्मनो बोधः सम्विच्छक्ति र्यस्य स मुग्ध इव यथा अन्यो मुग्धो जनः पृच्छति तथेत्यर्थः तत्तव युगपदेव मौग्ध्यं सार्वज्ञयञ्च मोहयतीव मोहयत्येव। अत्र मुग्ध इव त्वं न तु मुग्धः इति। मोहयतीव न तु मोहयति इति व्याख्यायां सङ्गत्यभावात्। असङ्गतेषु कर्माण्यनीहस्य भवोऽभवस्येत्यादि वाक्येषु मध्ये एतद्वाक्यस्योपन्यासो व्यर्थः

स्यादित्यत स्तथा न व्याख्येयम। ततश्च द्वारकालीलायां सत्यपि सार्वज्ञ्ये यथा मौग्धयं तथैव वृन्दावनलीलायामपि सत्यपि मौग्ध्ये सार्वज्ञ्य तस्याचिन्त्यशक्ति-सिद्धमेवमन्तव्यम्। अतएव वर्णितं श्रीलीलाशुकचरणैः "सर्वज्ञत्वे च मौग्धे च सार्वभौममिदं मह इति॥ १॥

अनुवाद—[श्रीकृष्ण रस-स्वरूप हैं, वे सर्वदा रसविलासमें निमग्न रहते हैं।] जिन्होंने कन्दर्पको अपने सुहृत रूपमें अङ्गीकार किया है, वैसी व्रजसुन्दरियोंके द्वारा परिवेष्टित होकर श्रीश्यामसुन्दर श्रीवृन्दावनमें सदा-सर्वदा ऐसे आविष्ट होकर विहार करते हैं कि उन्हें किसी प्रकारकी हानि, किसी प्रकारकी ग्लानि, किसी प्रकारका निजगृहकार्य, किसी प्रकारकी विपत्ति, किसी प्रकारका भय, किसी प्रकारकी चिन्ता और शत्रु आदिके द्वारा पराभव आदिका पता ही नहीं रहता—इन प्रमाण-वाक्योंसे ऐसा बोध होता है कि श्रीमती राधिका प्रभृति व्रजवधुओंके प्रेमविलासमें मुग्ध व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दरको कहीं भी अन्यत्र मनसंयोग करनेका अवकाश नहीं है। ऐसा होनेपर नानादिक और नाना देशवर्त्ती अनन्त रागानुगी भक्तगण श्रीव्रजेन्द्रनन्दनके उद्देश्यसे जो परिचर्या प्रभृति किया करते हैं, उसे कौन ग्रहण करता है? वे तरह-तरहकी विज्ञप्ति, स्तव-स्तुति आदि करते हैं, उन्हें भी कौन सुनता है? यदि उक्त शङ्काका समाधान इस प्रकारसे किया जाय कि श्रीव्रजेन्द्रनन्दनके अंश परमात्माके रूपमें सभी जीवोंके हृदयमें अधिष्ठित रहते हैं। अंश और अंशी अभिन्न होते हैं। इसलिए परमात्मा ही रागानुगा भक्तोंकी परिचर्या ग्रहण

करते हैं तथा वे ही उनकी स्तव-स्तुतियाँ आदि सुनते हैं, परमात्माका सुनना और ग्रहण करना ही श्रीव्रजेन्द्रनन्दनका सुनना और ग्रहण करना हुआ। किन्तु ऐसा समाधान रागानुगीय कृष्णभक्तोंके लिए एक महाव्याधिके समान कष्टप्रद होगा। फिर इसका समाधान क्या है? इसके उत्तरमें भक्त श्रीउद्धवकी उक्ति इस प्रकार है—हे प्रभो! जरासन्ध-वध और राजसूय-यज्ञ प्रभृतिके लिए मेरा वहाँ जाना उचित है या नहीं? इस विषयमें विचार आरम्भ होनेपर, आपने मुझे निकट बुलाकर मुग्ध-व्यक्तियोंकी भाँति मुझसे पूछते हो कि "हे उद्धव! इसमें मेरा क्या कर्त्तव्य है?" देशकालादि द्वारा अखण्ड एवं अप्रतिहत नित्यज्ञान-सम्पन्न होकर अर्थात् साधारण मुग्धजन जैसे किसी विचारपूर्ण विषयमें विज्ञजनोंसे पूछते हैं, उसी प्रकार तुम्हारे प्रश्नमें युगपत मुग्धता और सर्वज्ञता मुझे मोहित कर रही है। किन्तु यथार्थतः यहाँ मुग्धकी भाँति तुम मुग्ध नहीं हो और मुझे मोहित कर रहे हो, किन्तु यथार्थतः मोहित नहीं हुआ हूँ—जो लोग ऐसी व्याख्या करते हैं, वह सुसङ्गत नहीं जान पड़ते। क्योंकि चेष्टारहित तुम्हारा 'कर्म' और जन्मरहित तुम्हारा 'जन्म' इन शास्त्रीय वाक्योंमें इस वाक्यका उपन्यास व्यर्थ है, अतएव शेषोक्त प्रकारसे व्याख्या करना उचित नहीं है। इसलिए द्वारकालीलामें सर्वज्ञता रहनेपर मुग्धताको जैसे स्वीकार करना पड़ता है। उसी प्रकार वृन्दावनीय लीलामें भी मुग्धता रहनेपर भी श्रीकृष्णकी अचिन्त्यशक्तिसिद्ध सर्वज्ञताको स्वीकार करना कर्त्तव्य है। अतएव लीलाशुक

बिल्वमङ्गल ठाकुरने भी ऐसा ही वर्णन किया है—"भगवान्‌की सभी लीलाओंमें ही जब सर्वज्ञता और मुग्धता युगपत दीख रही है, तब उसे उनकी अचिन्त्यशक्तिसिद्धरूपमें स्वीकार करना ही होगा॥ १॥

अत्र सर्वज्ञत्वं महैश्वर्यमेव न तु माधुर्य, माधुर्य खलु तदेव यदैश्वर्यविनाभूतकेवलनरलीलत्वेन मौग्ध्यमिति स्थूलधियो ब्रुवते॥ २॥

अनुवाद—यहाँ सर्वज्ञता कहनेसे महाऐश्वर्य सम्पन्नताको समझना चाहिये, माधुर्यको नहीं और ऐश्वर्यको छोड़कर केवलमात्र नरलीलाके अनुकरणमें जो मुग्धता होती है, उसीको माधुर्य कहते हैं—स्थूलबुद्धिसम्पन्न मनुष्य ही ऐसा कहते हैं॥ २॥

माधुर्यादिकं निरूप्यते। महेश्वर्यस्य द्योतने वाद्योतने च नरलीलत्वानतिक्र मो माधुर्यम्। यथा पूतनाप्राणहारित्वेऽपि स्तनचूषणलक्षणनरबाललीलत्वमेव। महाकठोरशकट-स्फोटनेऽप्यतिसुकुमारचरणत्रैमासिक्योत्तानशायिबाललीलत्वम्। महादीर्घदामाशक्यबन्धत्वेऽपि मातृभीतिवैक्लव्यम्। ब्रह्म-बलदेवादिमोहनेऽपि सर्वज्ञत्वेऽपि वत्सचारणलीलत्वम्। तथा ऐश्वर्यसत्त्व एव तस्याद्योतने दधिपयश्चौर्यं गोपस्त्री-लाम्पट्यादिकम्। ऐश्वर्यरहितकेवलनरलीलत्वेन मौग्ध्यमेव माधुर्यमित्युक्तेः क्रीड़ाचपलप्राकृतनरबालकेष्वपि मौग्ध्यं, माधुर्य्यमिति तथा न निर्वाच्यम्॥ ३॥

अनुवाद—इसलिए माधुर्यादिके विषयमें निर्णय किया जा रहा है—जहाँ महाऐश्वर्यका प्रकाश हो अथवा

अप्रकाश हो, यदि नरलीलाके अनुरूप भावका तनिक भी व्यतिक्रम नहीं होता—उसीको माधुर्य कहते है। जैसे—पूतना राक्षसीके वधके समयमें श्रीकृष्णके स्तनपान लीला साधारण मनुष्य बालकके अनुरूप ही वर्त्तमान रहती है। महाभयानक और कठोर शकट-भंजनके समय भी श्रीकृष्ण अतिशय सुकमोल चरणकमल-विशिष्ट उत्तानशायी तीन महीनेके नरशिशुके अनुरूप ही बाल्यलीलाका प्रकाश कर रहे हैं। महादीर्घ रज्जुके द्वारा भी जिस समय कृष्ण बाँधे नहीं जा रहे हैं, उसी समय माताके भयसे अत्यन्त विह्वल दिखायी पड़ रहे हैं, ब्रह्मा और बलदेव आदिको मोहित करते हुए सर्वज्ञताके रहते हुए भी श्रीकृष्णकी नरोचित गोचारण लीला दृष्टिगोचर होती है। पुनः ऐश्वर्यके विद्यमान होनेपर भी उसकी अप्रकाशित अवस्थामें दधि-दुग्धकी चोरी और गोपरमणियोंके प्रति लाम्पट्यादि कार्यकलाप प्रकाशित हो रहे हैं। ऐश्वर्यरहित केवलमात्र नरलीलाके अनुरूप केवल मुग्धताको ही माधुर्य कहा जाय, तब क्रीड़ाचपल प्राकृत नर बालककी मुग्धताको भी माधुर्य कहना होगा। इसलिए माधुर्यका इस प्रकार लक्षण निरूपित करना ठीक नहीं है॥ ४॥

ऐश्वर्यन्तु नरलीलत्वस्यानपेक्षितत्वे सति ईश्वरत्वाविष्कारः। यथा मातापितरौ प्रति ऐश्वर्यं दर्शयित्वा—"एतद्वां दर्शितं रूपं प्राग्जन्म स्मरणाय मे। नान्यथा मद्भवं ज्ञानं मर्त्यलिङ्गेन जायते॥" इत्युक्तम्। यथा अर्जुनं प्रति "पश्य मे रूपमैश्वरम" इत्युक्त्वा ऐश्वर्यं दर्शितम्। व्रजेऽपि ब्रह्माणं प्रति मञ्जुमहिमदर्शने परःसहस्रचतुर्भुजत्वादिकमपीति॥ ४॥

अनुवाद—नरलीलागत भावकी अपेक्षा न कर केवलमात्र ईश्वर भावके आविष्कारको ऐश्वर्य कहते हैं। मातापिता श्रीवसुदेव और देवकीको श्रीकृष्ण ऐश्वर्य दिखलाकर कह रहे हैं, "हे पिता! हे माता! मैंने आपलोगोंको जो अपना चतुर्भुज रूप दिखलाया, यह केवल पूर्व जन्मका स्मरण करानेके लिए ही किया है अन्यथा मानुषोचित चिह्नों द्वारा मेरे विषयमें ज्ञान लाभ नहीं होता।" उसी प्रकार अर्जुनको भी—"मेरे ऐश्वर्यपूर्ण रूपका दर्शन करो"—ऐसा कहकर अपना ऐश्वर्य दिखलाया था। श्रीवृन्दावनमें भी स्वीय मञ्जुमहिमाका प्रदर्शन करते हुए ब्रह्माको सहस्र-सहस्र चतुर्भुजादि मूर्त्तियोंका दर्शन कराया था॥४॥

अथ भक्तनिष्ठमैश्वर्यज्ञानम् (१) अतएव "युवां न नः सुतौ साक्षात् प्रधानपुरूषेश्वरौ" इत्यादिवसुदेवोक्तेः "सखेतिमत्वाप्रसभंयदुक्तम्" इत्यर्ज्जुनोक्तेश्च ईश्वरोऽयमित्यनुसन्धानेऽपि हृत्कम्पजनक सम्भ्रमगन्धस्यानुद्गमात् स्वीयभावस्यातिस्थैर्य्यमेव यदुत्पादयति तन्माधुर्य्यज्ञानम्। यथा—"वन्दिनस्तमुपदेवगण ये, गीतवाद्यवलिभिः परिवव्रुः॥" इति "वन्द्यमानचरणः पथि वृद्धैः॥" इति च युगलगीतोक्तेः, गोष्ठं प्रति गवानयनसमये ब्रह्मेन्द्रनारदादिभिः कृतस्य कृष्णस्तुति-गीतवाद्यंपूजोपहारप्रदानपूर्वकचरण-वन्दनस्य दृष्टत्वेऽपि श्रीदाम-सुबलादीनां सख्यभावस्याशैथिल्यम्। तस्य तस्य श्रुतत्वेऽपि व्रजबालानां मधुरभावस्याशैथिल्यम्। तथैव व्रजराज-कृततदाश्वासनवाक्यैव्रजेश्वर्या अपि नास्ति वात्सल्यशैथिल्यगन्धोऽपि प्रत्युत धन्यैवाहं यस्यायं मम पुत्रः परमेश्वर इति मनस्यभिनन्दने पुत्रभावस्य दार्ढ्यमेव। यथा प्राकृत्या

अपि मातुः पुत्रस्य पृथ्वीश्वरत्वे सति तत्पुत्रप्रभावः स्फीत एवावभाति। एवं धन्या एव वयं येषां सखा च परमेश्वर इति यासां प्रेयान् परमेश्वर इति सखानां प्रेयसीनाञ्च स्वस्वभावदार्ढ्यमेव ज्ञेयम्। किञ्च संयोगे सति ऐश्वर्यज्ञानं न सम्यगवभासते, संयोगस्य शैत्यात् चन्द्रातपतुल्यत्वात् विरहे त्वैश्वर्यज्ञानं सम्यगवभासते। विरहस्यौष्णया सूर्यातप-तुल्यत्वात्। तदपिहृत्कम्पसम्भ्रमादाद्यभावान्नैश्वर्य ज्ञानम्। यदुक्तम्—"मृगयुरिवकपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा स्त्रियमकृतविरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्। बलिमपि बलिमत्वावेष्टयद्धा-डक्षवद्यस्तदलमसितसख्यै र्दुस्त्यजस्तत्कथार्थं" इति। अत्र व्रजौकसां गोवर्द्धनधारणात् पूर्वं कृष्ण ईश्वर इति ज्ञानं नासीत्। गोवर्द्धनधारणवरूणलोक गमनानन्तरं तु कृष्णोऽयम् ईश्वर एवेति ज्ञानेऽप्युक्तप्रकारेण शुद्धं माधुर्यज्ञानमेव पूर्णम्। वरुणवाक्येनोद्धववाक्येन च साक्षादीश्वरज्ञानेऽपि "युवां न नः सुताविति" वसुदेववाक्यवत् व्रजेश्वरस्य "न मे पुत्रः कृष्ण" इति मनस्यपि मनागपि नोक्तिः श्रुयते इति तस्माद्व्रजस्थानां सर्वथैव शुद्धमेव माधुर्यज्ञानं पूर्णं पुरस्थानां तु ऐश्वर्यज्ञानमिश्रं माधुर्यज्ञानं पूर्णम्॥ ५॥

अनुवाद—अनन्तर भक्तजननिष्ठ ऐश्वर्य ज्ञानका वर्णन किया जा रहा है। (१) श्रीवसुदेवजीने श्रीकृष्ण और श्रीबलदेवसे कहा था, "तुम दोनों मेरे पुत्र नहीं हो, साक्षात् प्रधान पुरुष ईश्वर हो।" अर्जुनने भी श्रीकृष्णका विश्वरूप दर्शनकर ऐसा कहा था, "हे कृष्ण तुम्हारी

---

(१) ईश्वरोऽयमित्यनुसन्धाने सति हृत्कम्पजनकसम्भ्रमेण स्वीयभावस्यातिशैथिल्यं यत् प्रतिपादयति तदैश्वर्यज्ञानम्॥

महिमाको न जानकर प्रमाद या प्रणय हेतु आपके लिए मैंने जो कुछ भी कहा है, उसके लिए क्षमा करें।" इन भक्तोंकी इन उक्तियोंसे ही यह सूचित हो रहा है कि श्रीकृष्णके ऐश्वर्य-दर्शनसे उनका वात्सल्य और सख्य भाव शिथिल हो गया है। इसीको ऐश्वर्यज्ञान कहते हैं। "ये ईश्वर हैं"—ऐसा ज्ञान रहनेपर भी जिस भावमें हृत्कम्पजनित सम्भ्रम (गौरव) की गन्धमात्र भी उदित नहीं होती, बल्कि अपने हृदयमें स्वाभाविक भाव स्थिर रहता है, उसे माधुर्यज्ञान कहते हैं। जैसे "गन्धर्व आदि उपदेवताओंने श्रुतिपरायण होकर गीतवाद्य और पुष्पादि उपहारोंके द्वारा उनकी पूजा करते हुए, उन्हें चारों ओरसे घेर लिया" एवं "गोचारणके मार्गमें ब्रह्मादि वृद्धपुरुष उनके श्रीचरणोंकी वन्दना करते हैं" इत्यादि युगलगीतकी उक्तियोंके अनुसार गोचारणकर वनसे गाय और मित्र-मण्डलीके साथ गोष्ठमें लौटते समय ब्रह्मा, हन्द्र और नारद प्रभृति देवताओं द्वारा श्रीकृष्णकी स्तुति तथा गीतवाद्यके साथ पूजोपहार अर्पणपूर्वक चरण-वन्दनादिका दर्शन करके भी श्रीदाम-सुबलादि सखाओंके सख्यभावमें तनिक भी शिथिलता नहीं देखी जाती। इन सब बातोंको सुनकर भी व्रजसुन्दरीयोंके मधुरभावकी स्थिरता ही देखी जाती है। उसी प्रकार व्रजराज नन्दके द्वारा व्रजवासियोंके प्रति प्रदत्त आश्वासन (सान्त्वना) वचनोंमें भी व्रजेश्वरी श्रीमती यशोदाके वात्सल्यभावमें शिथिलताकी गन्ध भी नहीं देखी जाती। बल्कि उनका वात्सल्यभाव और भी पुष्ट होते देखा जाता है। "मैं धन्य हूँ कि मेरा पुत्र

साक्षात् परमेश्वर है"—यहाँ उक्त वाक्यसे यशोदाके मनमें अपने मातृत्वकी गरिमा आविर्भूत होनेके कारण वात्सल्यभावकी दृढ़ता ही लक्षित हो रही है। ठीक उसी प्रकार जैसे पुत्र पृथ्वीका अधीश्वर होनेपर भी प्राकृत जननीका उस पुत्रके प्रति वात्सल्यभाव और भी उच्छलित हो उठता है। सखाओंका यह कथन—"हम धन्य हैं जो हमारे सखा परमेश्वर हैं।" तथा प्रेयसियोंका यह कथन—"हम भी धन्य हैं कि साक्षात् परमेश्वर हमारे प्रियतम हैं।"—इन उक्तिओंसे यह अवगत होता है कि ईश्वर ज्ञानके उदय होनेसे इन व्रजवासियोंके अपने-अपने भावोंकी दृढ़ता ही व्यक्त हो रही है।

संयोग कालमें ऐश्वर्यज्ञान भलीभाँति प्रकाशित नहीं होता। संयोग चन्द्रकिरणोंके समान अतिशय सुशीतल, किन्तु वियोग सूर्यकी प्रखर रश्मियोंकी भाँति अतिशय उष्ण होनेके कारण विरहमें ऐश्वर्यज्ञान भलीभाँति प्रकाशित हो पड़ता है। तथापि ऐश्वर्यज्ञानकी स्फूर्तिके समयमें भी हृदयकम्पजनित सम्भ्रम और उससे उत्पन्न आदर आदिका अभाव रहनेसे उसे यथार्थ ऐश्वर्यज्ञान स्वीकार नहीं किया जा सकता। "रामावतारमें व्याधकी भाँति छिपकर वानरराज बालीको बाणसे विद्ध किया। साधाराण व्याध माँसके लोभसे प्राणियोंकी हिंसा करता है, किन्तु उन्होंने अकारण ही बालीका वध किया था। अतएव वे व्याधसे भी अधिक क्रूर हैं। यही नहीं, स्त्रीके वशीभूत होकर उन्होंने कामुकी शूर्पणखाका नाक-कान भी काट दिया था। वामनावतारमें तो कौवेकी भाँति महाराज बलिकी पूजा

ग्रहण करके उन्हें वरुण-पाशसे बाँध लिया था, इसलिए उस काले रङ्गके व्यक्तिसे सख्यकी हमें कोई आवश्यकता नहीं। तो भी हम उनकी ही चर्चा कर रही हैं। वह केवल इसलिए कि हमारे लिए उनकी कथाओंका परित्याग करना दुःसाध्य है।" यहाँ भ्रमरगीतके इस श्लोकसे यह भाव स्पष्ट रूपसे झलक रहा है कि ऐश्वर्यके सम्बन्धमें अवगत रहनेपर भी व्रजसुन्दरियोंमें श्रीकृष्णके प्रति कोई विशेष गौरव या आदर नहीं उत्पन्न हुआ। गोवर्धन धारणसे पूर्व व्रजवासियोंका श्रीकृष्णके प्रति ऐश्वर्यभाव नहीं था। गोवर्धन धारण एवं वरुणलोकसे लौटनेपर—"यह श्रीकृष्ण ही साक्षात् ईश्वर हैं।" ऐसा ऐश्वर्यज्ञान उदित होनेपर उनका हृदय पूर्ववत् माधुर्यज्ञानसे ही परिपूर्ण था। श्रीवसुदेवजीने कृष्ण और बलदेवको लक्ष्यकर कहा था—"तुम दोनों हमारे पुत्र नहीं हो।" उसी प्रकार वरुणदेव और उद्धवके वचनोंसे व्रजेश्वर श्रीनन्द महाराजके हृदयमें कृष्णके प्रति ऐश्वर्यज्ञान उदित तो हुआ, किन्तु कृष्ण हमारा पुत्र नहीं है—ऐसा भाव कभी उनके मनमें नहीं आया अथवा न कभी किसीसे ऐसा कहा। क्योंकि ऐसा कहीं भी कोई उल्लेख नहीं है। अतः व्रजवासियोंमें सदैव विशुद्ध माधुर्यज्ञान ही पूर्ण था, किन्तु पुरलीलाके परिकरोंमें ऐश्वर्य मिश्रित माधुर्यज्ञान पूर्ण था॥ ५॥

ननु पुरे वसुदेवनन्दनः कृष्णोऽयमहमीश्वर एव इति नरलीलत्वेऽपि जानात्येव यथा तथैव नन्दनन्दनः कृष्णं स्वमीश्वरत्वेन व्रजे जानाति न वा? यदि जानाति तदा

दामबन्धनादिलीलायां मातृभीतिहेतुकाश्रुपातादिकं न घटते। तदादिकमनुकरणमेवेति व्याख्या तु मन्दमतीनामेव नत्वभिज्ञ-भक्तानाम्। तथाव्याख्यानस्याभिज्ञसम्मतत्वे "गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम यावद्या ते दशाश्रुकलिलाञ्जनसंभ्रमाक्षम्। वक्त्रं निलीय भयभावनया स्थितस्य सा मां विमोहयति भीरपि यद्विभेति॥" इत्युक्त्यवत्यां कुन्त्यां मोहो नैव वर्ण्येत। तथाहि भीरपि यद्विभेति इत्युक्त्यैव कुन्त्या अत्रैश्वर्यज्ञानं व्यक्तीभूतं भयभावनया स्थितस्य इत्यन्तर्भयस्य च तया सत्यत्वमेवाभिमतम्। अनुकरणमात्रत्वे ज्ञाते तस्या मोहो न सम्भवेदिति ज्ञेयम्। यदि च स्वमीश्वरत्वेन न जानाति तदा तस्य नित्यज्ञानानन्दघनस्य नित्यज्ञानावरणं केन कृतमिति?—अत्रोच्यते। यथा संसारबन्धे निपात्य दुःखमेवानुभावयितुं मायावृत्तिरविद्या जीवानां ज्ञानमावृणोति, यथा च महामधुरश्रीकृष्णलीलासुखमनुभावयितुं गुणातीतानां श्रीकृष्णपरिवाराणां व्रजैश्वर्य्यादीनां ज्ञानं चिच्छक्तिवृत्ति-र्योगमायैवावृणोति, तथैव श्रीकृष्णमानन्दस्वरूपमप्यानन्दातिशय-मनुभावयितुं चिच्छक्तिसारवृत्तिः प्रेमैव तस्य ज्ञानमावृणोति। प्रेम्नस्तु तत्स्वरूपशक्तित्वात् तेन तस्य व्याप्ते र्न दोषः। यथा ह्यविद्या स्ववृत्त्या ममतया जीवं दुःखयितुमेव वध्नाति, यथा दण्डनीयजनस्य गात्रबन्धनं रज्जुनिगड़ादिना माननीय-जनस्यापि गात्रबन्धनमनर्घसुगन्धसूक्ष्मकञ्चुकोष्णीषादिना, इत्यविद्याधीनो जीवो दुःखी, प्रेमाधीनः कृष्णोऽतिसुखी। कृष्णस्य प्रेमावरणस्वरूपः सुखविशेषभोग एव मन्तव्यः, यथा भृङ्गस्य कमलकोषावरणरूपः। अतएवोक्तं नापैषि नाथ हृदयाम्बुरुहात् स्वपुंसामिति प्रणयरसनया धृताङ्घ्रिपद्म

इति च। किञ्च यथैवाविद्यया स्वतारतम्ये ज्ञानावरणतरताम्यात् जीवस्य पञ्चविधक्लेशतारतम्यं विधीयते, तथैव प्रेम्नापि स्वतारतम्येन ज्ञानैश्वर्याद्यावरणतारतम्यात् स्वविषयाश्रययोरनन्तप्रकारं सुखतारतम्यं विधीयते इति। तत्र केवलप्रेमा श्रीयशोदादिनिष्ठः स्वविषयाश्रयौ ममतारसनया निबध्य परस्पर वशीभूतौ विधाय ज्ञानैश्वर्य्यादिकमावृत्य यथाधिकं सुखयति न तथा देवक्यादिनिष्ठो ज्ञानैश्वर्य्यमिश्र इति। तस्मात् तासां व्रजेश्वर्यादीनां सन्निधौ तद्वात्सल्यादिप्रेममुग्धः श्रीकृष्णः स्वमीश्वरत्वेन नैव जानाति। यत्तु नानादानवदावानलाद्युत्पातागमकाले तस्य सार्वज्ञां दृष्टं तत् खलु तत्तत्प्रेमिपरिजनपालनप्रयोजनिकया लीलाशक्त्यैव स्फूरितं ज्ञेयम्। किञ्च मौग्ध्यसमयेऽपि तस्य साधकभक्तपरिचर्यादिग्रहणे सार्वज्ञ्यमचिन्त्यशक्तिसिद्धम् इति प्राक् प्रतिपादितम्। तदेवं विधिमार्गरागमार्गयोर्विवेक ऐश्वर्यमाधर्ययोर्विवेक ऐश्वर्यज्ञानमाधुर्यज्ञानयोर्विवेकश्चदर्शितः। स्वकीयापरकीयात्वयोर्विवेकस्तु उज्ज्वलनीलमणिव्याख्यायां विस्तारित एव।

तत्र विधिमार्गेण राधाकृष्णयोर्भजने महावैकुण्ठस्थगोलोके खल्वविवक्तस्वकीयापरकीयाभावमैश्वर्यज्ञानं प्राप्नोति। मधुरभावलोभित्वे सति विधिमार्गेण भजने द्वारकायां श्रीराधासत्यभामयोरैक्यात् सत्यभामापरिकरत्वेन स्वकीयाभावमैश्वर्यज्ञानमिश्रमाधुर्यज्ञानं प्राप्नोति। रागमार्गेण भजने व्रजभूमौ श्रीराधापरिकरत्वेन परकीयाभावं शुद्धमाधुर्यज्ञानं प्राप्नोति। यद्यपि श्रीराधिका श्रीकृष्णस्य स्वरूपभूता ह्लादिनीशक्तिः, तस्या अपि श्रीकृष्णः एव, तदपि तयोलीलासहितयोरेवोपास्यत्वं न तु लीलारहितयोः, लीलायान्तु तयो व्रजभूमौ क्वाप्यार्षशास्त्रे

दाम्पत्यं न प्रतिपादितमिति श्रीराधा हि प्रकटाप्रकटप्रकाशयोः परकीयैव इति सर्वार्थनिष्कर्षसङ्क्षेपः ॥ ६ ॥

अनुवाद—यहाँ ऐसी शङ्का हो सकती है कि जिस प्रकार पुरलीलामें वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण मनुष्यकी भाँति लीला करनेपर भी "मैं ईश्वर हूँ" ऐसा जानते थे, उसी प्रकार व्रजलीलामें नन्दनन्दन श्रीकृष्ण अपनेको ईश्वर जानते थे या नहीं? यदि कहें कि हाँ जानते थे, तो ऐसी दशामें दाम-बन्धनादि लीलामें माँ यशोदाके भयसे कृष्णकी आँखोंसे अश्रुपातादि सम्भव नहीं होता। यदि कहें कि वह भय और भयजनित अश्रुपात अनुकरणमात्र था—तो ऐसी व्याख्या अभिज्ञ भक्तोंके पक्षमें शोभा नहीं देती। ऐसी व्याख्या केवल अल्पबुद्धि-विशिष्ट व्यक्तिके लिए ही सम्भव है। यदि ऐसी व्याख्या अभिज्ञ भक्तोंके सम्मत होती, तो कुन्तीदेवी कृष्णके सम्बन्धमें ऐसा कदापि नहीं कहतीं—"हे कृष्ण! दधिभाण्ड फोड़कर अपराध करनेपर यशोदा मैयाने तुम्हें दण्ड देनेका विचार किया, जिससे तुम भविष्यमें फिर ऐसी उद्दण्डता न करो। वे तर्जन करती हुई, तुम्हें रस्सियोंसे बाँधने लगीं, तब तुम्हारे दोनों नेत्र भयसे विह्वल हो गये, कज्जल मिश्र अश्रुधाराएँ कपोलोंसे होकर वक्षस्थलको भिगोने लग गयीं। उस समय भय भी जिनसे भयभीत रहता है, वह तुम स्वयं मैयाके भयसे भीत और अधोमुख होकर मैयाके अङ्गोंके पीछे छिप रहे थे। तुम्हारी उस समयकी अवस्था मेरे स्मृतिपटलमें उदित होनेपर मुझे विमोहित कर रही है" कुन्तीदेवीकी इस उक्तिमें मोहका उल्लेख नहीं होता। यहाँ

इन वचनोंसे कुन्तीदेवीका मोह और साथ ही कृष्णके ईश्वरत्वका ज्ञान भी देखा जाता है। क्योंकि "साक्षात् भय भी जिनसे भयभीत रहता है"—इस उक्तिके द्वारा कुन्तीदेवीका ऐश्वर्यज्ञान व्यक्त हुआ है। साथ ही "भयसे भीति होकर" उस उक्तिके अनुसार श्रीकृष्णके अन्तःस्थित भय बनावटी नहीं, बल्कि यथार्थ रूपमें था, यही कुन्तीदेवीका अभिमत है। यदि कुन्तीदेवीको यह पता होता कि कृष्णकी भीति अनुकरणमात्र है, तो उन्हें मोह नहीं होता। यदि ऐसा कहा जाय कि "मैं ईश्वर हूँ" कृष्ण ऐसा नहीं जानते थे, तब ऐसा संशय उपस्थित होता है—नित्यज्ञानानन्दघन श्रीकृष्णके नित्यज्ञानका आवरण किसके द्वारा सम्भव होता है? जैसे मायाकी वृत्तिस्वरूपा अविद्या संसारबन्धनमें डालकर जीवोंको केवलमात्र दुःखका अनुभव करानेके लिए उनके ज्ञानका आवरण करती है। और जैसे चित्-शक्तिकी वृत्तिस्वरूपा लीलाशक्ति-योगमाया महामाधुर्यमय श्रीकृष्णलीला-सुखका रसास्वादन करानेके लिए त्रिगुणातीत श्रीकृष्णपरिकर श्रीव्रजेश्वरी प्रभृतिका ज्ञान आवृत कर देती है, उसी प्रकार चित्-शक्तिकी सारवृत्तिस्वरूपा प्रेम भी आनन्दस्वरूप कृष्णको आनन्दातिरेक अनुभव करानेके लिए उनका स्वरूपज्ञान आवृत करता है। प्रेम भी श्रीकृष्णकी स्वरूपशक्ति है। इसलिए प्रेम द्वारा कृष्णका स्वरूप आवृत होनेपर कोई दोष नहीं होता। जिस प्रकार जीवोंको दुःख देनेके लिए अविद्या अपनी वृत्ति ममता द्वारा जीवको बन्धन करती है और दण्डनीय व्यक्तिका देह-बन्धन दुःखप्रद रज्जु और शृङ्खलके द्वारा

सम्पादित होता है और इससे उनको दुःखकी अनुभूति होती है, उसी प्रकार इसके ठीक विपरीत सम्माननीय व्यक्तिका गात्रबन्धन आनन्ददायक बहुमूल्य सुगन्धित सूक्ष्म कोमल कुर्त्ता और पगड़ीके द्वारा सम्पन्न होता है तथा बन्धन होनेपर भी वह परमानन्ददायक होता है। उसी प्रकार अविद्याकृत बन्धन दशाप्राप्त जीव केवल दुःखभोग करते हैं, किन्तु प्रेमाधीन कृष्ण अत्यन्त सुखी होते हैं। भ्रमर जैसे कमलकोषकृत आवरणमें बन्द रहकर भी सुखका अनुभव करता है, उसी प्रकार प्रेमका बन्धन या आवरण भी कृष्णके लिए आनन्ददायक होता है। इसलिए ऐसा कहा गया है, "हे नाथ! तुम अपने भक्तोंके हृदय-कमलसे निकलते नहीं हो" तथा "भक्तोंने तुम्हारे चरणकमलको अपने प्रणयरज्जुसे बाँध रखा है।" जिस प्रकार अविद्याकी अल्पता और आधिक्यके तारतम्यसे ज्ञानावरणकी अल्पता और आधिक्यका तारतम्य होता है तथा उसीके अनुरूप पञ्चविध क्लेशोंकी अल्पता और अधिकता अनुभूत होती है, उसी प्रकार प्रेम भी अपनी अल्पता और आधिक्यसे प्रेमके विषय और आश्रय दोनोंके ही ज्ञान और ऐश्वर्यको आवृतकर उनको अनन्त प्रकारके सुखकी वैचित्र्यीका रसास्वादन कराता है। उनमेंसे यशोदा प्रभृति व्रजवासियोंका प्रेम अपने विषय-कृष्ण और अपने आश्रय-व्रजवासी भक्तोंको ममतारूप रज्जुसे बाँधकर एक दूसरेके प्रति वशीभूत करा देता है तथा उनके ज्ञान और ऐश्वर्यको आच्छादितकर उन्हें अत्यधिक सुख प्रदान करता है। दूसरी ओर वसुदेव-देवकी प्रभृति

मथुरा और द्वारकावासियोंका ज्ञान-ऐश्वर्य मिश्र प्रेम श्रीकृष्ण और मथुरावासी-भक्तोंको वैसा सुख देनेमें समर्थ नहीं है। इसलिए वैसी व्रजेश्वरी यशोदा आदिके निकट उनके वात्सल्यादि प्रेममें मुग्ध श्रीकृष्ण अपनेको ईश्वर जान ही नहीं पाते। आसुरिक तथा दावानल प्रभृति उत्पातोंके उपस्थित होनेपर श्रीकृष्णकी जो सर्वज्ञता देखी जाती है, वह केवल प्रेमी भक्तोंके पालनके लिए ही उनकी लीला-शक्तिके द्वारा स्फुरण करायी गयी होती है—ऐसा समझना चाहिये। और मुग्धताके समयमें भी कृष्णमें जो सर्वज्ञता होती है वह साधक भक्तोंके परिचर्या आदि ग्रहण करनेके लिए ही होती है। वह भी अचिन्त्यशक्तिके द्वारा कृष्णमें सञ्चारित होती है। पहले इसका प्रतिपादन किया जा चुका है।

इस प्रकार विधिमार्ग और रागमार्गका विचार, ऐश्वर्य और माधुर्यका विचार तथा ऐश्वर्यज्ञान और माधुर्यज्ञानका विचार प्रदर्शित हुआ। स्वकीया और परकीया सम्बन्धीय समाधानका उज्ज्वलनीलमणिकी आनन्दचन्द्रिका टीकामें (इस टीकाका भावार्थ ग्रन्थके अन्तमें दृष्टव्य है) विस्तृत रूपमें वर्णन किया गया है।

उनमेंसे विधिमार्गका अवलम्बनकर राधाकृष्णका भजन करनेसे महावैकुण्ठस्थ गोलोकके स्वकीया परकीया भेदभाव वर्जित ऐश्वर्यज्ञानकी प्राप्ति होती है। मधुरभावके प्रति लोभ रहनेपर विधिमार्गका अवलम्बनकर भजन करनेसे श्रीराधा और सत्यभामा ऐक्यवशतः द्वारकामें श्रीसत्यभामाके परिकर रूपमें स्वकीयाभाव और ऐश्वर्यज्ञानमिश्र माधुर्यज्ञानकी

प्राप्ति होगी। पुनः मधुरभावके प्रति लोभ रहनेपर रागमार्गके अनुसार भजन करनेपर व्रजभूमिमें श्रीमती राधिकाके परिकरके रूपमें परकीयाभाव और शुद्ध माधुर्यज्ञानकी प्राप्ति होती है।

यद्यपि श्रीमती राधिका श्रीकृष्णकी स्वरूपभूता ह्लादिनीशक्ति है, श्रीकृष्ण भी श्रीमती राधिकाके स्वकीयजन हैं, तथापि लीलासमन्वित श्रीराधाकृष्ण युगल उपासना करना ही कर्त्तव्य है। लीलाविहीन कृष्णकी उपासना नहीं करनी चाहिये। किन्तु किसी भी ऋषि प्रणीत् शास्त्रमें व्रजस्थित राधाकृष्णके दाम्पत्यका प्रतिपादन नहीं किया है। इसलिए श्रीमती राधिका प्रकट और अप्रकट दोनों ही प्रकाशोंमें परकीया ही हैं, स्वकीया नहीं। इस प्रकार समस्त कथाओंका संक्षिप्त सारार्थ प्रकाशित हुआ॥ ६॥

अथ रागानुगाभाक्तिमज्जनस्यानर्थनिवृत्तिनिष्ठारुच्यासक्त्यनन्तरं प्रेमभूमिकारूढ़स्य साक्षात्स्वाभीष्टप्राप्तिप्रकारः प्रदर्श्यते। यथोज्ज्वलनीलमणौ "तद्भाववद्धरागा ये जनास्ते साधने रताः। तद्योग्यमनुरागौघं प्राप्योत्कण्ठानुसारतः। ता एकशोऽथवा द्वित्राः काले काले व्रजेऽभवन्" इति। अनुरागौघं रागानुगाभजनौत्कण्ठयं नत्वनुरागस्थायिनं साधकदेहेऽनुरागोत्पत्त्यसम्भवात्। व्रजेऽभवन्निति अवतारसमये नित्यप्रियाद्या यथा आविर्भवन्ति तथैव गोपिकागर्भे साधनसिद्धा अपि आविर्भवन्ति। ततश्च नित्यसिद्धादिगोपीनां महाभाववतीनां सङ्गमहिम्ना दर्शनश्रवणकीर्त्तनादिभिः स्नेहमानप्रणयरागानुरागमहाभावा अपि तत्र गोपीकादेहे उत्पद्यन्ते। पूर्वजन्मनि साधकदेहे तेषाम् उत्पत्त्यसम्भवात्। अतएव व्रजे कृष्ण–

प्रेयसीनामासाधारणानि लक्षणानि। यदुक्तम्-गोपीनां परमानन्द आसीद्गोविन्ददर्शने। क्षणं युगशतमिव यासां येन विना भवेदिति। त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यतामित्यादि च। क्षणस्य युगशतायमानत्वं महाभावलक्षणम्।

ननु प्रेमभूमिकाधिरूढ़स्य साधकस्य देहभङ्गे सत्येवाप्रकट-प्रकाशे गोपीगर्भाज्जन्मना विना एव गोपिकादेहप्राप्तौ सत्यां तत्रैव नित्यसिद्धगोपिकासङ्गोद्भूतानां स्नेहादीनां भावानां प्राप्तिः स्यादित्येवं किं न ब्रुषे? मैवम्। गोपीगर्भाज्जन्मना विना इयं सखी कस्याः पुत्री कस्य वधूः कस्य स्त्री इत्यादि-नरलीलताव्यवहारो न सिध्येत्। तर्ह्यप्रकटप्रकाश एव जन्मास्तीति चेन्नैवं, प्रपञ्चागोचरस्यवृन्दावनीयप्रकाशस्य साधकानां प्रापञ्चिकलोकानाञ्च प्रवेशादर्शनेन सिद्धानामेव प्रवेशदर्शनेन ज्ञापितात् केवलसिद्धभूमित्वात् स्नेहादयो भावास्तत्र स्वस्व-साधनैरपि तूर्णं न फलन्ति, अतो योगमायया जातप्रेमाणो भक्ता स्ते प्रपञ्चगोचरे वृन्दावनप्रकाशे एव श्रीकृष्णावतारसमये नीयन्ते तत्रोत्पत्त्यनन्तरं श्रीकृष्णाङ्ग-सङ्गात् पूर्वमेव तत्तद्भावसिद्धयर्थम्। तत्र साधक भक्तानां कर्म्मिप्रभृतिनां सिद्धभक्तानाञ्च प्रवेशदर्शनेनैवानुभूयते साधक भूमित्वं सिद्धभूमितञ्च। ननु तर्ह्येतावन्तं कालं तैः परमोत्कण्ठैः भर्क्तैः क्व स्थातव्यम्? तत्रोच्यते। साधकदेहभङ्गसमये एव तस्मै प्रेमवते भक्ताय चिरसमयविधृतसाक्षात् सेवाभिलाष-महोत्कण्ठाय भगवता कृपयैव सपरिकरस्य स्वस्य दर्शनं तदभिलषनीयसेवादिकं चालब्धस्नेहादिप्रेमभेदायापि सकृद्दीयते एव यथा नारदायैव। चिदानन्दमयी गोपिकातनुश्च दीयते। सैव तनु र्योगमायया वृन्दावनीयप्रकटप्रकाशे कृष्ण-

परिवारप्रादुर्भावसमये गोपीगर्भादुद्भाव्यते। नात्र कालबिल-म्वगन्धोऽपि। प्रकटलीलाया अपि विच्छेदाभावात्। यस्मिन्नेव-ब्रह्माण्डे तदानीं वृन्दावनीयलीलानां प्राकट्य तत्रैवास्यामेव व्रजभूमौ, अतः साधकप्रेमिभक्तदेहभङ्गसमकालेऽपि सपरिकर-श्रीकृष्णप्रादुर्भावः सदैवास्ति, इति भो भो महानुरागिसोत्कण्ठभक्ता माभैष्ट सुस्थिरास्तिष्ठत स्वस्त्येवास्ति भवद्भय इति॥ ७॥

अनुवाद—तदनन्तर रागानुगीय भक्तजनोंके क्रमशः अनर्थ-निवृत्ति, निष्ठा, रुचि और आसक्तिके पश्चात् प्रेमभूमिकामें आरूढ़ होनेपर उन्हें किस प्रकार साक्षात् रूपसे अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति होती है, इसे दिखलाया जा रहा है। उज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थमें कहा गया है, "जिन्होंने व्रजवासीजनोंके विशेष भावमें अनुरक्त होकर रागानुगा मार्गके अनुसार साधन-भजन किया था, उन्होंने रागानुगा भजनोचित उत्कण्ठा राशिको प्राप्तकर उत्कण्ठाके अनुरूप अकेले अथवा दो-तीन जन एकत्र मिलकर समय-समयपर व्रजभूमिमें जन्म प्राप्त किया था। यहाँ मूल श्लोकके अनुरागाघ शब्दका अर्थ रागानुगा भजनोचित उत्कण्ठाको समझना चाहिये, अनुरागरूप स्थायी भावको नहीं। क्योंकि साधकदेहमें अनुरागरूप स्थायी भावके आविर्भावकी सम्भावना नहीं है। "व्रजमें जन्म प्राप्त किया था" इसका अर्थ अवतारके समय नित्यसिद्धा व्रजवधुएँ जैसे आविर्भूत होती हैं, उसी प्रकार गोपियोंके गर्भसे साधन-सिद्धाएँ भी होती हैं। तत्पश्चात् नित्यसिद्धा महाभाववती व्रजदेवीयोंके प्रभावसे उनके दर्शन, श्रवण और कीर्त्तनके द्वारा उन साधनसिद्धा गोपियोंमें भी क्रमशः स्नेह, मान, प्रणय, राग,

अनुराग, भाव और महाभावसमूह भी उदित होते हैं। पूर्वजन्मके साधकदेहमें उक्त भावसमूहोंकी उत्पत्ति असम्भव है। इसलिए व्रजकी कृष्णप्रेयसियोंके असाधारण लक्षणोंको नीचे बतलाया जा रहा है। श्रीमद्भागवतमें ऐसा कहा गया है कि श्रीगोविन्दके दर्शनसे गोपियोंको परमानन्दकी प्राप्ति हुई थी। जिन गोपियोंको कृष्णके वियोगमें क्षणकाल भी सैकड़ों युगोंके समान प्रतीत होता है। उन व्रजसुन्दरियोंका ही यह कथन है—"तुम्हें दर्शन किये बिना हमारा एकनिमेष काल भी एक युगके समान प्रतीत होता है।" क्षणमात्र काल भी सैकड़ों युगोंके समान प्रतीत होना महाभावका लक्षण है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है? प्रेमभूमिका प्राप्त साधकको देहभङ्ग होते ही गापीगर्भमें जन्मके बिना ही, सीधे अप्रकट प्रकाशमें गोपीदेहकी प्राप्ति हो, तदनन्तर उसी गोपीदेहमें नित्यसिद्धा गोपियोंके सङ्गप्रभावसे स्नेहादि भावोंकी प्राप्ति हो—ऐसा क्यों नहीं कहते? इसके उत्तरमें कहते हैं कि नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि गोपीगर्भमें जन्म व्यतीत यह सखी किसकी कन्या है, किसकी वधु है, किसकी स्त्री है इत्यादि नरलीलोचित स्त्री-कन्यादि व्यवहारोंके सामञ्जस्य सम्भव नहीं है।

पुनः प्रश्न होता है, तब अप्रकट प्रकाशमें ही उनका जन्म होता है यदि ऐसा कहा जाय, तो क्या हानि है? इसके उत्तरमें कह रहे हैं—नहीं, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। प्राकृत जगत्से सर्वथा अतीत देशके वृन्दावनीय-प्रकाश-विशेषमें साधकोंका अथवा प्राकृत व्यक्तियोंका

गमन सुना नहीं जाता, केवल सिद्धव्यक्ति ही वहाँ गमन कर सकते हैं। सिद्धभूमि होनेके कारण वहाँ साधनके द्वारा स्नेहादि भावसमूह शीघ्र फलप्रद नहीं होते। इसलिए प्रपञ्चगोचर श्रीवृन्दावनीय प्रकाशमें जन्म ग्रहण करनेके पश्चात् कृष्णाङ्गसङ्गसे पूर्व ही उन स्नेहादि भावोंकी सिद्धिके लिए योगमाया उन लब्धप्रेम भक्तोंको श्रीकृष्णावतारके समय प्राकृत-जनगोचर श्रीवृन्दावनीय प्रकाशमें ले जाती है। साधकभक्तों, कर्मियों तथा सिद्धभक्तगणोंका प्रपञ्चगोचर श्रीवृन्दावनमें प्रवेश देखा जाता है, इसलिए यह वृन्दावन धाम साधकभूमि और सिद्धभूमि दोनोंके रूपमें अनुभूत होता है।

यदि ऐसा कहो कि जातप्रेम-परमोत्कण्ठावान्-भक्तगण साधक देहपातके पश्चात् और गोपीदेह प्राप्तिसे पूर्व इतना समय कहाँ रहते हैं? इसके उत्तरमें बतला रहे हैं—साधकदेहके पतनके पश्चात् ही जो बहुत समय तक साक्षात्-भगवत्-सेवा प्राप्तिकी अभिलाषासे उत्कण्ठावान प्रेमीभक्तोंको भगवान् कृपापूर्वक अपने परिकरोंके सहित दर्शन दानकर (स्नेहादि प्रेमविलासोंको लाभ न करनेपर भी) और उन भक्तोंकी अभिलषणीय सेवादि एकबार दान किया करते हैं। (जैसे—पूर्व जन्ममें भक्त नारदको दर्शन दिये थे,) और चिदानन्दमयी गोपीदेह भी प्रदान किया करते हैं। उसी देहको योगमाया श्रीकृष्णके परिकरगणोंके आविर्भावके समय श्रीवृन्दावनीय प्रकट प्रकाशमें गापीगर्भसे प्रादुर्भूत कराती है। इस विषयमें एक क्षणका कालविलम्ब भी नहीं करतीं। क्योंकि प्रकट लीला सब समय

किसी-न-किसी ब्रह्माण्डमें चल रही है, उसका कभी भी विच्छेद नहीं है। इसलिए जिस ब्रह्माण्डमें वृन्दावनीय लीला चल रही होती है, वहीं गोपीगर्भसे उसका जन्म होता है, ऐसा समझना चाहिये। इसलिए प्रेमवान साधक भक्तके देहपतनके समय भी सपरिकर कृष्णका प्रादुर्भाव भी निरन्तर सब समय विराजमान है। अतः हे महानुरागी उत्कण्ठाशील भक्तगण! भयभीत न हों, सुस्थिर हों, आपका कल्याण विद्यमान है॥ ७॥

श्रीचन्द्रिका-चकोर-वृत्ति

स्वरूपसिद्धिमें प्रेमप्राप्तिके पश्चात् प्रकट व्रजमें गोपीगर्भसे जन्म ग्रहण किये बिना अभिमानकी सिद्धि नहीं होती। जैसे—पुराणोंमें ऐसा सुना जाता है कि एक समय देव-देव महादेवके हृदयमें रासलीला दर्शनकी लालसा उत्पन्न हुई। वे श्रीधाम वृन्दावन पहुँचे। व्रजकी सीमापर गोपियोंने उन्हें रोक दिया। उनसे कहा योगमाया पौर्णमासीके आदेशके बिना यहाँपर कोई प्रवेश नहीं कर सकता। उनकी बात सुनकर महादेवजीने श्रीपौर्णमासीजीको प्रसन्न करनेके लिए कठोर तपस्या (आराधना) आरम्भ की। उनकी आराधनासे योगमाया प्रकट हुईं और वर माँगनेके लिए कहा। महादेवजीने रासलीला दर्शनकी अभिलाषा व्यक्त की। योगमायाने उनका हाथ पकड़कर ब्रह्मकुण्डमें गोता लगवाया। शङ्करजी तत्क्षणात् ही परम सुन्दरी गोपी बन गये। पौर्णमासीने उस नवीना किशोरी गोपीको रासस्थलीके ईशानकोणमें स्थित एक कुञ्जसे रासलीला

दर्शन करनेका निर्देश दिया। जब रातमें रासलीला आरम्भ हुई, तो उक्त नवीना गोपी उक्त स्थानसे रासलीलाका दर्शन करने लगी, किन्तु आजकी लीलामें श्रीकृष्ण और गोपियोंको विशेष उल्लास नहीं हुआ। वे उल्लास न होनेका कारण ढूँढ़ने लगे। तब उन्होंने विचार किया, किसी अनधिकारी व्यक्तिने किसी-न-किसी प्रकारसे यहाँपर प्रवेश किया है। चारों ओर ढूँढ़नेपर उस कुञ्जके अन्दर छिपी हुई उक्त नवीना गोपीको देख उसपर सन्देह हुआ।

गोपियोंने उससे पूछा, "आज तुम्हें पहली बार देखा है, तुम किसकी लड़की हो, तुम्हारे पतिका नाम क्या है? तुम किस गाँवकी हो?" किन्तु नवीना गोपी इन प्रश्नोंका उत्तर न दे सकीं, केवल मुख ताकती रह गयी। गोपियोंको यह निश्चित हो गया कि यही अनधिकारिणी विजातीय है। पीछेसे पौर्णमासीके अनुरोध करनेपर श्रीकृष्ण और गोपियोंने उसे दूरसे रासलीला दर्शनका आदेश दिया।

गोपीगर्भसे जन्म न होनेके कारण महादेवजीकी गोपियों जैसी भावकी सिद्धि नहीं हो सकी थी। इसलिए उन अभिमानोंकी सिद्धिके लिए प्रकट लीलामें गोपीगर्भसे गोपकन्याके रूपमें जन्म लेकर वहाँ किसी गोपसे विवाहादि होना परम आवश्यक है। योगमाया ऐसा कराती हैं। इसके पश्चात् नित्यसिद्धाओंके सङ्गमें सम्पूर्ण रूपसे सिद्ध होनेपर अप्रकट व्रजमें श्रीकृष्णसेवा प्राप्त होती है॥ ७॥

"लीलाविलासिने भक्तिमञ्जरीलोलुपालिने। मौग्ध्यसार्व-ज्ञयनिधये गोकुलानन्द ते नमः॥ ददामि बुद्धियोगन्तं येन

मामुपयान्ति ते॥ इत्यवोचः प्रभो तस्मादेवाहमर्थये। गोपीकुचालंकृतस्य तव गोपेन्द्रनन्दन। दास्यं यथा भवेदेवं बुद्धियोगं प्रयच्छ मे। ये तु रागानुगा भक्तिः सर्वथैव सर्वदैव शास्त्रविधिमतिक्रान्ता एव इति ब्रुवते "ये शास्त्र-विधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः" इति "विधिहीन-मसृष्टान्नम्" इत्यादि गीतोक्त र्गर्हा मर्हन्तो मुहुरुत्पातमनुभूत-वन्तोऽनुभवन्तोऽनुभविष्यन्ति चेत्यलमतिविस्तरेण। हन्त रागानुगावर्त्म दुर्दर्श विवुधैरपि। परिचिन्वस्तु सुधियो भक्ताश्चन्द्रिकयानया॥ ८॥

इति महामहोपाध्याय-श्रीमद्विश्वनाथ चक्रवर्ति महाशय-विरचिता रागवर्त्म-चन्द्रिका समाप्ता।

अनुवाद—हे गोकुलानन्द! हे लीलाविलासी! तुम भक्तिमञ्जरीके लुब्ध मधुकरस्वरूप हो, तुम मुग्धता और सर्वज्ञताके आकर स्वरूप हो, तुम्हें नमस्कार करता हूँ।

हे प्रभो! तुमने स्वयं कहा है—"मैं अपने भक्तोंको बुद्धियोग प्रदान करता हूँ, जिस बुद्धियोगके द्वारा भक्त मुझे प्राप्त कर लेता है।" इसीलिए मैं यही प्रार्थना कर रहा हूँ "हे व्रजेन्द्रनन्दन! गोपियोंके स्तन द्वारा अलंकृत आपके दास्यकी जिस प्रकारसे प्राप्ति हो, वैसा बुद्धियोग मुझे प्रदान करें।

रागानुगा भक्ति सर्वप्रकारकी शास्त्रविधियोंसे सर्वथा अतीत है, जो लोग ऐसा कहते हैं और "जो विधियोंका परित्यागकर श्रद्धासहित अर्चन करते हैं," वे "विधिहीन अस्पृष्टान्न" इत्यादि गीता वचनोंके अनुसार निन्दनीय हैं

और वे बारम्बार उत्पात अनुभव किये हैं, कर रहे हैं और भविष्यमें भी करेंगे। अधिक कहना निष्प्रयोजन है।

अहो! रागानुगामार्ग देवताओंके लिए भी दुर्दर्शनीय है। बुद्धिमान भक्त इस चन्द्रिकाके द्वारा रागमार्गका परिचय प्राप्त करें॥ ८॥

इति रागवर्त्मचन्द्रिकाका अनुवाद समाप्त॥

स्वकीया-परकीयाके सम्बन्धमें

श्रीजीव गोस्वामी और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरके विचार

श्रीउज्ज्वलनीलमणि (२/२१) श्लोककी टीकामें स्वकीया एवं परकीयाके सम्बन्धमें श्रीलजीव गोस्वामी एवं श्रीलचक्रवर्ती ठाकुरजीकी विचार धाराओंका सारमर्म नीचे दिया जा रहा है। दोनों महाजनोंने तत्त्व और लीलाकी दृष्टिसे अपने-अपने विचारोंमें बड़ी कुशलतासे शास्त्रीय-युक्तियों और प्रमाणोंके आधारपर एक ही परात्पर तत्त्वका दिग्दर्शन कराया है।

श्रीलजीव गोस्वामीके विचार—

(१) लौकिक रीतिके अनुसार साधारण उपपतिका जो लक्षण निर्दिष्ट किया जाता है, श्रीकृष्णके सम्बन्धमें वह लक्षण किसी प्रकार भी प्रयोज्य नहीं हो सकता। नित्यलीलामें परकीयाभाव नहीं होता, किन्तु माया द्वारा किसी विशेष रसका परिपोषण करनेके लिए केवल प्रकट लीलामें औपपत्यकी प्रतीतिमात्र होती है। ब्रह्ममोहनमें भी मायिकी लीला परिलक्षित होती है।

(२) शृङ्गाररसमें औपपत्य-रसाभास जनक होता है। शृङ्गाररस परमपवित्र बतलाया गया है। जैसे—"शृङ्ग हि मन्मथोद्भेदस्तदागमन-हेतुकः। उत्तम-प्रकृति-प्राय रसः शृङ्गार ईष्यते॥" (स॰ द॰ ३/१८८) यहाँ उत्तम-प्रकृति-प्राय शब्दकी व्याख्यामें उन्होंने अमरकोषसे "शृङ्गार शुचिरुज्ज्वलः" उद्धृतकर यह बतलाया है—शृङ्गार, शुचि और उज्ज्वल

तीनों पर्यायवाची शब्द हैं। इसलिए शुचि अर्थात् पवित्र और उज्ज्वल रसमें अधर्ममय औपपत्य कभी सम्भव नहीं है। त्रिकाण्डशेषमें 'जार' शब्द पापपतिके लिए प्रयुक्त हुआ है।

(३) नाट्य-अलङ्कार शास्त्रमें भी उपपतिको घृणास्पद बतलाया गया है। जैसे साहित्यदर्पणमें—"उपनायक-संस्थायां मुनि-गुरु पत्नी गतायाञ्च। बहुनायक-विषयायां रतौ च तथाऽनुभव-निष्ठायां॥" अर्थात् जो रति उपनायक (उपपति) के प्रति, अनेक नायकोंके प्रति, मुनिपत्नी और गुरुपत्नीके प्रति होती है अथवा नायक-नायिका परस्पर निष्ठायुक्त नहीं होते, वह रति शृङ्गाररसमें अनुचित होती है।

(४) श्रीकृष्णने स्वयं ही औपपत्यका दोष दिखलाया है—

अस्वर्ग्यमयशस्यञ्च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम्।
जुगुप्सितञ्च सर्वत्र ह्यौपपत्यं कुलस्त्रियाः॥
(श्रीमद्भा॰ १०/२९/२६)

अर्थात् कुलीन स्त्रीयोंके लिए उपपति-जारपुरुषोंकी सेवा सब तरहसे निन्दनीय है। इससे उनका परलोक बिगड़ता है, स्वर्ग नहीं मिलता। इस लोकमें भी अपयश होता है। यह कुकर्म तो अत्यन्त तुच्छ और क्षणिक है ही, इसमें वर्त्तमानमें भी कष्ट-ही-कष्ट है तथा साक्षात् नरकका हेतु भी है।

(५) परीक्षित्जीने भी कहा है—"आप्तकामो यदुपतिः कृतवान् वै जुगुप्सितम्" (श्रीमद्भा॰ १०/३३/२९) अर्थात्

पूर्णकाम होनेपर भी कृष्णने किस अभिप्रायसे यह निन्दनीय कर्म किया।

(६) इन वचनोंके द्वारा उपपतिमें जो दोष दिखलाया गया है, उन्हें श्रीकृष्णसे भिन्न दूसरे नायकके सम्बन्धमें ही समझना चाहिये। कृष्णके सम्बन्धमें वैसे दोषोंकी सम्भावना नहीं है। क्योंकि मधुररसका आस्वादन करनेके लिए ही उनका अवतार हुआ है।

(७) विशेष रूपमें गोपियोंके साथ श्रीकृष्णका नित्यदाम्पत्यमय सम्बन्ध है। ब्रह्मसंहिताके "आनन्दचिन्मय रस..." (ब्र॰ स॰ ३७) श्लोकमें 'निजरूपतया' का अर्थ "स्वदारत्वेनैव न तु प्रकट लीलावत् परदारत्व–व्यवहारेणेत्यर्थः" अर्थात् प्रकट लीलामें जैसे आनन्दचिन्मयरस प्रतिभावित गोपियाँ परकीयाके रूपमें लीलाका पोषण करती है, नित्यलीलामें वैसा नहीं है। परमलक्ष्मीरूप गोपियोंका नित्यलीलामें नित्यदाम्पत्यके अतिरिक्त दूसरा कोई भाव नहीं है। इसलिए प्रापञ्चिक प्रकट लीलामें गोपियोंका परदारत्व (कृष्णके अतिरिक्त दूसरेकी स्त्री होनेका भाव) केवलमात्र मायाके द्वारा दिखलाया गया है।

(८) शास्त्रोंमें श्रीकृष्णका उल्लेख गोपियोंके पतिरूपमें किया गया है। गौतमीय तन्त्र (२/२३) में नन्दनन्दन श्रीकृष्णको अनेक जन्मोंमें सिद्ध गोपियोंका पति बतलाया गया है–

अनेकजन्मसिद्धानां गोपीनां पतिरेव वा।
नन्दनन्दन इत्युक्तस्त्रैलोक्यानन्दवर्द्धनः॥

श्रीमद्भा॰ (१०/३३/३५) में भी श्रीकृष्णको गोपियों, उनके पतियों और समस्त देहधारियोंका पति बतलाया गया है—

गोपीनां तत्पतीनाञ्च सर्वेषाञ्चैव देहिनाम।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्ष एव क्रीड़न-देहभाक्॥

(९) गोपालतापनीमें श्रीकृष्णको गोपियोंका स्वामी कहा गया है—"स वो हि स्वामी भवति।" (गो॰ ता॰ उ॰ २३)

(१०) लक्ष्मियोंका परकीया भाव सम्भव नहीं है। श्रीकृष्णवल्लभाएँ लक्ष्मी हैं। ब्रह्मसंहितामें उन्हें लक्ष्मी माना गया है—"लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानं" (ब्र॰ स॰ २९) अर्थात् गोलोक वृन्दावनमें करोड़ों गोपीरूप लक्ष्मियोंके द्वारा गोविन्द परिसेवित होते हैं। श्रीकृष्णने भी श्रीमती राधिकाजीको 'अखिल लोक लक्ष्मी' सम्बोधन किया है। प्रकटलीलामें उपपतिकी भाँति प्रतीत होनेके कारण ही श्रीकृष्णको उपपति जैसा वर्णन किया गया है।

(११) रतिके सम्बन्धमें 'बहुवारणता' (बार-बार मना करनेका भाव), प्रच्छन्नकामुकता एवं परस्पर मिलनकी दुर्लभता जो रसशास्त्रमें अत्यन्त श्रेष्ठ मानी गयी है—यह लौकिक रसशास्त्रके सम्बन्धमें ही प्रयोज्य है।

(१२) समर्था रतिमें निवारणादि नहीं होनेके कारण भी शृङ्गाररसकी यथेष्ट पुष्टि होती है। उसमें भी मादनाख्य-महाभावकी पराकाष्ठा परिलक्षित होती है। इसलिए औपपत्य सर्वतोभावेन अनावश्यक है। प्रकट

लीलामें उपपति जैसा भाव प्रतीत होनेपर भी वह माया द्वारा विजृम्भित मात्र है। श्रीलजीव गोस्वामीने उपसंहारमें लिखा है—

स्वेच्छया लिखितं किञ्चित् किञ्चिदत्र परेच्छया।
यत् पूर्वापर-सम्बन्धं तत्पूर्वमपरं परं॥

अर्थात् इस विचारमें मैंने कुछ अपनी इच्छासे और कुछ दूसरोंकी इच्छासे लिखा है। इसमेंसे आगे और पीछेके सम्बन्धसे युक्त अंश अपनी इच्छासे तथा ऐसे सम्बन्धसे रहित अंश दूसरेकी इच्छासे लिखा गया है—ऐसा समझना चाहिये।

श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरजीकी विचारधारा—

श्रीलजीव गोस्वामीपाद श्रीरूपानुग-वैष्णवोंमें प्रधान हैं, उनके लिए स्वकीयाके पक्षमें व्याख्या करना सम्भव नहीं, फिर भी उन्होंने स्वकीयाके पक्षमें जो व्याख्या की है, वह स्वयंकी इच्छासे नहीं, अपितु दूसरोंकी इच्छासे ही ऐसी व्याख्या की है। इसलिए अपनी व्याख्याके उपसंहारमें उन्होंने स्वयं इसे स्वीकार किया है—"लिखितं किञ्चिदत्र परेच्छया।" भिन्न रुचिवाले अनधिकारी लोगोंके लिए यह दुर्ज्ञेय अचिन्त्य लीला सम्पूर्णरूपसे निर्दोष जान पड़े और वे लोग भी निरन्तर श्रद्धापूर्वक इस लीलाका ध्यान करनेके लिए प्रस्तुत हों—ऐसा सोचकर ही उन्होंने स्वकीयाके पक्षमें व्याख्या की है। फलस्वरूप श्रीमन् महाप्रभुके चरणाश्रित अन्तरङ्ग भक्तोंके लिए ऐसी व्याख्या

कदापि ग्राह्य नहीं हो सकती। क्योंकि ऐसी व्याख्या आगे-पीछे और इधर-उधरके प्रसङ्गोंसे सङ्गत सिद्ध नहीं होती—

(१) औपपत्य अर्थात् उपपतिका भाव अधर्मस्पर्शी और नरकजनक हैं, यह केवल प्राकृत नायकोंके लिए ही है, किन्तु धर्म-अधर्मके नियामक चूड़ामणीन्द्र श्रीकृष्णके सम्बन्धमें ऐसी आशङ्काका स्थान कहाँ है? प्राकृत नायक-नायिकाके मिलनमें अधर्म स्पर्श करता है, किन्तु जिनके भ्रू-संचालनमात्रसे अगणित विश्व-ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि और संहार हो जाता है, ऐसे लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्ण और उनकी महाशक्तियोंमें भी सर्वप्रधान ह्लादिनीशक्ति-स्वरूपा गोपियोंमें यह दोष कदापि स्पर्श नहीं कर सकता। इसलिए श्रील रूपगोस्वामीने नाटकचन्द्रिकामें लिखा है—परोढ़ा औपपत्यको पण्डितोंने जो गौण बतलाया है, उसे श्रीकृष्ण और गोपियोंके अतिरिक्त दूसरे प्राकृत नायक और नायिकाओंके सम्बन्धमें ही समझना चाहिये। अलङ्कार-कौस्तुभका यही अभिप्राय है। अलौकिक सिद्ध श्रीकृष्णके लिए यह औपपत्य और गोपियोंके लिए परकीयात्व दूषण न होकर भूषणस्वरूप ही होता है।

(२) श्रीकृष्णकी प्रकटलीला मायिक नहीं है। वस्तुतः प्रकटलीला और अप्रकटलीलामें कुछ भी अन्तर व वैलक्षण्य नहीं है। ब्रह्मसंहिता (५/४३) श्लोकमें श्रीलजीव गोस्वामीका मन्तव्य द्रष्टव्य और अनुसरणीय है—जब श्रीकृष्ण जीवोंके प्रति अनुग्रहकर अपना लीलामाधुर्य प्रपञ्च जगत्में प्रकट करते हैं, तब उसे प्रकटलीला

कहते हैं। दूसरी ओर वही लीला प्रपञ्चस्थित जीवोंके नेत्रोंसे अन्तर्हित हो जाती है, तो उसे अप्रकटलीला कहते हैं। श्रीलरूप गोस्वामी लघुभागवतामृत १/२४४ श्लोकमें कहते हैं—"अनादिमेव जन्मादिलीलामेव तथाद्भुताम्। हेतुना केनचित् कृष्णः प्रादुष्कुर्यात् कदाचन॥" अर्थात् कृष्ण अजन्मा होनेपर भी उनकी जन्मादि लीलाएँ परम अद्भुत हैं। किसी कारण वे उस परम अद्भुत अलौकिक लीलाओंको प्रापञ्चिक जगत्में प्रकट करते हैं।

(३) अप्रकटलीला नित्य-दाम्पत्यमयी है और प्रकट-लीला मायिक और परोढ़ा-उपपति-भावमयी है, ऐसा समझना युक्तिसङ्गत नहीं है। क्योंकि सर्वलीला चूड़ामणि रासलीलाके आदि, मध्य और अन्तमें सर्वत्र ही परोढ़ा-उपपति भाव विराजमान है। रासलीलाको मायिक समझना नितान्त अनुचित है। रासपञ्चाध्यायीके प्रत्येक अध्यायमें ही परकीयात्व और उपपतित्व प्रतिपादक अनेक प्रमाण-वाक्य देखे जाते हैं। "ता वार्यमानाः पतिभिः" (२९/८), "भ्रातरः पतयश्च वः" (२९/२०), "एवं यत्पत्यपत्य सुहृदामनुवृत्तिरंग" (२९/३२), "तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः" (३०/४४), "पतिसुतान्वय-भातृबान्धवान्" (३१/१६), "एवं मदर्थोज्झित-लोक-वेद-स्वानां" (३१/२१), "कृत्वा भावन्त-मात्मानं यावतीर्गोपयोषितः" (३३/१९), "मन्यमानाः स्व-पार्श्वस्थान् स्वान् दारान् व्रजौकसः" (३३/३७) इत्यादि। श्रीशुकदेव गोस्वामी स्वयं श्रीकृष्ण और गोपियोंके मुखनिःसृत इन वाक्योंसे परोढ़ात्व और उपपतित्व भाव स्पष्ट रूपसे प्रतिपादित करते हैं।

(४) रासलीला माया द्वारा रचित मिथ्या (विजृम्भित) होनेसे लक्ष्मियोंकी अपेक्षा गोपियोंका उत्कर्ष कैसे प्रमाणित होगा? श्रीमद्भागवतमें इसी आधारपर गोपियोंको लक्ष्मीसे श्रेष्ठ बतलाया गया है—"नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः" (श्रीमद्भा॰ १०/४७/६०) अर्थात् गोपियोंको श्रीकृष्णका वह परम दुर्लभ कृपा-प्रसाद प्राप्त हुआ, जो लक्ष्मीजीको कभी भी प्राप्त नहीं हुआ। रासलीला मायिक होनेपर ऐसा उत्कर्ष स्थापन निराधार एवं मिथ्या हो पड़ता है।

(५) कहीं भी किसीने दाम्पत्यमयी रासलीलाका वर्णन नहीं किया है।

(६) उपपति भावके प्रतिपादक अंशोंको भ्रमपूर्ण जानकर परित्याग करनेसे रासलीलाकी कोई उपादेयता शेष नहीं रहती। रासलीला प्रसङ्गमें श्रीकृष्णने स्वयं अपने मुखसे ऐसा कहा है—"न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधु कृत्यं" (श्रीमद्भा॰ १०/३२/२२) अर्थात् तुम्हारा मिलन परम पवित्र है और सर्वथा निर्दोष है, मैं तुम्हारे इस साधुकृत्यका कभी भी ऋण चुकानेमें असमर्थ हूँ। रासलीला मायिक होनेपर इस पद्यांशके परम प्रेमोत्कर्षकी प्रामाणिकता अमूलक और अवास्तविक हो पड़ती है।

(७) उक्त श्लोकका "या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः" यह पद्यांश भी परोढ़ा एवं उपपति भावका प्रतिपादक है। गोपियोंने कृष्णके लिए घर-गृहस्थीकी अछेद्य शृङ्खलाओंको तोड़कर एकनिष्ठ भावसे उनका भजन किया था। श्रीकृष्ण उनके उस प्रेमसेवा और त्यागका ऋण चुकानेमें

अपनी असमर्थता प्रकटकर उनके चिर-ऋणी बन गये। अतएव वे गोपीप्रेमके वशीभूत हैं। यह एक नित्य और परमसत्य वास्तविक तथ्य है। रासलीला मायिक होनेपर यह वास्तविक तथ्य भी मिथ्या हो पड़ता है।

(८) यदि ऐसा कहा जाय कि कृष्ण मायावी है, उन्होंने छल-चातुरीसे गोपियोंका केवलमात्र मनोरञ्जन करनेके लिए अपनेको उनका ऋणी बतलाया था, तो यह बात भी युक्तिसङ्गत नहीं जान पड़ती। क्योंकि परम ऐकान्तिक भक्त चूड़ामणि महाविज्ञ उद्धवने इस मिथ्या एवं अनित्य विषयमें भजनकी पराकाष्ठा क्यों दिखलायी है? उन्होंने श्रीवृन्दावनमें वैसी गोपियोंकी चरणधूलिसे अभिषिक्त होनेके लिए गुल्म-लताओंकी योनियोंमें जन्म लेनेकी लालसा क्यों की? "आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्" (श्रीमद्भा॰ १०/४७/६१) क्या इस श्लोकके द्वारा द्वारकाकी पटरानीकी अपेक्षा गोपियोंका प्रेमोत्कर्ष स्वीकृत नहीं हुआ है? इस अतुलनीय प्रेमोत्कर्षका कारण यह है कि गोपियाँ अपने स्वजनों एवं आर्यपथका भी परित्याग करके श्रीकृष्णमें अत्यन्त ऐकान्तिक रूपसे अनुरागी हैं। यदि उनका स्वजन और आर्यपथ (पतिव्रता धर्म) त्याग, मायिक व्यापार माना जाता है, तो प्रेमोत्कर्षका हेतु भी अवास्तव ही ठहरता है। इससे ऐकान्तिक भक्त श्रीउद्धवके वचन भी भ्रमपूर्ण ठहरते हैं। उस स्थितिमें आप्तवाक्यमें भी अनास्थाका दोष क्या उपस्थित नहीं होगा?

(९) दशाक्षर और अष्टदशाक्षर मन्त्रका अर्थ भी परोढ़ात्व-उपपतित्व भावमय है। शब्दकी अद्भुत शक्तिके सम्बन्धमें जिन्हें ज्ञान है, उनसे यह बात छिपी नहीं है।

(१०) श्रीकृष्णके विभिन्न ध्यानों एवं मन्त्रोंमें भी उक्त भावकी झलक दृष्टिगोचर होती है।

(११) साधकगण ध्यानकी परिपक्वावस्थामें भी प्रकट-लीलाके भावोंको ही प्रत्यक्ष करते हैं। इसलिए लीला अनित्य अथवा मायिकी नहीं है। गीतामें भगवान्‌के जन्म और कर्मको दिव्य बतलाया गया है—"जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।" श्रीरामानुजाचार्यने इस श्लोककी व्याख्यामें भगवान्‌के जन्म-कर्म एवं परिकरोंका भी नित्यत्व स्थापित किया है। श्रीमधुसूदन सरस्वतीने भी 'दिव्य' शब्दका अर्थ 'अप्राकृत' किया है। पिप्पलादशाखीया पुरुषबोधनी श्रुतिमें भी भगवान्‌की लीलाओंको नित्य बतलाया गया है। "एको देवो नित्यलीलानुरक्तो भक्तव्यापी भक्तहृदयाद्यन्तरात्मा।" श्रीविट्ठलनाथने स्वरचित 'विद्वन्मण्डलन' नामक ग्रन्थमें भगवान्‌के जन्म और कर्मकी नित्यताका प्रतिपादन किया है। बृहद्वामन पुराणमें भी प्रकटलीलाका नित्यत्व प्रदर्शनपूर्वक कहा गया है। श्रीभगवान् कहते हैं—"मेरे प्रति (श्रीकृष्णके प्रति) जारधर्म द्वारा सर्वतोभावेन अत्यधिक सुदृढ़ स्नेह प्राप्त होकर तुम सभी कृत-कृत्य होओगे।"

(१२) श्रीभगवान्‌के नाम नित्य है। उनकी एक-एक लीलाके द्वारा एक-एक नाम निर्दिष्ट हुए हैं। लीला नित्य न होनेपर उनके रासबिहारी इत्यादि नाम भी अनित्य

ठहरते हैं। ऐसी दशामें जो भजनका सार है, वह भी मायिक हो पड़ेगा। भगवान्नामको अनित्य समझना नामापराध है।

(१३) श्रीलजीव गोस्वामीपादने स्वयं ही श्रीभगवत्–सन्दर्भमें श्रीभगवान्के नाम, जन्म और कर्म आदिके नित्यत्वका प्रतिपादन किया है। यही नहीं उन्होंने भगवान्के रूप–प्रकाश–जन्म–कर्म–विशिष्ट लीला तथा उनके परिकरों, सबको अनन्त एवं तदीय स्वरूपशक्तिकी अभिव्यक्ति सिद्ध किया है। अतएव श्रीलजीव गोस्वामीकी युक्तिके अनुसार यह सभी नित्य हैं, तब परोढ़ा–उपपति–भावमयी लीला मायिक क्यों होगी?

(१४) श्रीव्रजसुन्दरियाँ विप्र और अग्निको साक्षी रखकर कृष्णके साथ विवाह–बन्धनमें बँधी हुई हैं, ऐसा किसी भी शास्त्रमें कोई उल्लेख नहीं मिलता। यदि कोई ऐसा कहते हैं, तो क्या यह विचार श्रीशुकदेव गोस्वामीके सम्मत होगा? महाराज परीक्षित्के द्वारा धर्म–संस्थापक, आप्तकाम श्रीकृष्णके उपपति भावके प्रति संदिग्ध होकर प्रश्न करनेपर श्रीशुकदेव गोस्वामी यह स्पष्ट रूपसे कह सकते थे कि ये गोपियाँ कृष्णकी विवाहित पत्नियाँ हैं, ये परदारा नहीं हैं। फिर उन्होंने कष्टप्रायः सिद्धान्तके द्वारा परीक्षितको समझानेका प्रयास क्यों किया? इसके अतिरिक्त यह भी एक बात विचारणीय है कि मथुरासे उपनयन होनेसे पहले व्रजमें श्रीकृष्णका विवाह होना, क्या आर्य शास्त्रोंके विरुद्ध नहीं हैं?

(१५) कहीं-कहीं 'पति' शब्दका जो उल्लेख देखा जाता है, वहाँ पति शब्दका अर्थ विवाहित पतिसे न होकर 'गति' से समझना चाहिये। केवल विवाहित पति ही नायिकाके पति कहे जाते हैं—ऐसी बात नहीं। नायिका प्रकरणमें परकीयाके लिए 'स्वाधीनभर्तृका' शब्दका प्रयोग देखा जाता है। पुनः ऐसा भी हो सकता है वे किसी-किसी नायिकाके पतिके रूपमें वर्णित हुए हों, किन्तु दूसरी-दूसरी नायिकाओंके सहित उनका दाम्पत्यमय सम्बन्ध नहीं है। यदि श्रीकृष्ण सभीके विवाहित पति होते, तो श्रीमद्भागवतमें 'परदाराभिमर्षण' का प्रसङ्ग ही उपस्थित न होता। नायिकाओं (गोपियों) के स्व-स्व पतियोंके सम्बन्धमें भी उल्लेख है। यहाँ तक कि ऐसा भी उल्लेख है कि व्रजदेवियोंका अपने पतियोंके साथ कभी भी संगम नहीं हुआ था—"न जातु व्रजदेवीनां पतिभिः सह संगमः (उज्ज्वलनीलमणि ३/३२)।"

(१६) गोपाल-तापनीके "स वो हि स्वामी भवति" इस वाक्यमें 'स्वामी' शब्द विवाह-वाचक शब्द नहीं है। स्वामी ऐश्वर्य-बोधक शब्द है। पाणिनि (५/२/१२६) में कहते हैं 'स्वामिन्नैश्वर्य' कहीं-कहीं ऐसा प्रयोग भी देखा जाता है—"लोके हि यस्य हि यः स्वामी भवति, स तस्य भोक्ता भवतीभि" इसलिए स्वामी कहनेसे ही विवाहित पतिका ही बोध नहीं होता।

(१७) व्रजके समस्त सम्बन्ध ही चिन्मय है। जहाँ-जहाँ माया शब्दका उल्लेख है, वहाँ योगमायासे ही समझना चाहिये। इसलिए अभिमन्युके साथ श्रीमती राधिकाका जो

पतिभाव वर्णित हुआ है, उसे चिन्मय-व्यापार ही समझना होगा। श्रीभगवानकी लीला-शृङ्खलाओंके मध्यमें होनेके कारण वह सम्बन्ध भी मायिक नहीं है। योगमाया ही उस सम्बन्धमें हेतु है।

(१८) श्रीमती राधिका श्रीकृष्णकी स्वरूपभूता ह्लादिनी-शक्ति है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। बात यह है कि लीला-विशिष्ट राधाकृष्ण युगल ही हमारे भजनीय हैं। लीलाविहीन राधाकृष्ण हमारी धारणा और भजनके अतीत हैं।

(१९) यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि जैसे गोपियोंका दुर्यश, मनोवेदना, सास-ननद इत्यादिके द्वारा निषेध वाक्य और यातनाएँ देखी जाती हैं। सत्यभामा, रुक्मिणी आदि राजमहिषियोंके सम्बन्धमें ऐसा देखा-सुना नहीं जाता। इसलिए आपाततः मनमें ऐसा विचार उठ सकता है कि रुक्मिणीकी अपेक्षा सम्भवतः गोपियोंका अपकर्ष है, किन्तु रागानुगा महाभाववती गोपियोंके जैसे लौकिक दुःख देखे जाते हैं, उसी प्रकार दूसरोंकी अपेक्षा उनका अत्यधिक सुख भी देखा जाता है।

(२०) व्रजदेवियोंका कृष्णके सहित सम्बन्ध अचिन्त्य अनुरागका फल है, इस सम्बन्धको स्थापन करनेमें उन्हें अपने स्वजनोंका त्याग करना पड़ा। आर्यपथसे भी उनकी विच्युति हुई है, किन्तु यह सब क्लेश और दुःख भी उनके लिए परम सुखकर प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त अनुरागके चरमोत्कर्षका और दूसरा दृष्टान्त कहाँ मिल सकता है? महाभाववती गोपियोंका यह

असाधारण, अलौकिक अनुराग पूज्यपाद श्रील जीव गोस्वामीके लिए भी जो एकान्त अभिप्रेत होगा, इस विषयमें कोई भी सन्देह नहीं है। इसीलिए परमकृपालु श्रीलजीव गोस्वामीपादने पूर्वलिखित "स्वेच्छया लिखितं किञ्चित्" श्लोककी अवतारणा की है। अतः औपपत्य सम्बन्ध श्रीलजीव गोस्वामीके लिए भी अभीष्ट है। यदि गुरु, अग्नि और विप्रको साक्षी रखकर व्रजबालाओंके साथ कृष्णका विवाह हुआ होता, तो उज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थमें आद्योपान्त सभी बातें ही विपर्यस्त हो जाती हैं। इसलिए श्रीलजीव गोस्वामी द्वारा लिखित दाम्पत्यसूचक उक्तियों 'परेच्छा' अर्थात् दूसरोंकी इच्छासे प्रेरित होकर लिखीं गयी हैं।

ऋग्वेद (१/१२/६६, १/१७/११७, १/२०/१३४, ६/५५/४-५, ९/३८/४, १०/१६२/५) आदि श्रुतिमन्त्रोंमें 'जार' शब्दका उल्लेख पाया जाता है। अविवाहिता (कन्या) के प्रेमीका भी उक्त ऋग्वेदमें ही उल्लेख देखा जाता है। (१/६६/४, १/१७/११७-११८) आदि छान्दोग्य उपनिषद् २/१३/२ शङ्करभाष्य आनन्दगिरिकृत टीकामें भी वामदेव्य सामोपासनाके अङ्गरूपमें परकीया भावका अनुमोदन दृष्टिगोचर होता है। पाणिनिके ३/३/२० सूत्रके ७४३ वें संख्यक वार्त्तिकमें भी 'जार' शब्दकी व्युत्पत्ति दिखलायी गयी है—"जरयन्तीति जाराः।"

श्रीगौड़ीय वैष्णवोंके साध्य-साधनके सम्बन्धमें प्रधान वैशिष्ट्य है—परकीया भाव। इससे पूर्व किसी भी वैष्णवाचार्यने इसका उपदेश नहीं दिया है। परकीया

भावका इङ्गित श्रीकृष्णकर्णामृतके (९, ५१, ५३, ७६, ७७, ८७, ९०) संख्यक श्लोकमें श्रीमद्भागवतके रासपञ्चाधायी (१०/२९/२२, २५, २६; १०/३३/२७,३५) मुक्ताफल ५/१४ की टीकामें तथा श्रीचण्डीदास, विद्यापतिकी पदावलियोंमें पाया जाता है। श्रीजयदेवके ग्रन्थोंमें स्पष्ट रूपसे नहीं होनेपर भी इङ्गित अवश्य मिलता है। यद्यपि गीतगोविन्दमें (१२/१४) (पत्युर्मनः कीलितं) पतिका उल्लेख है, तथापि (१०/९) "देहि पदपल्लवमुदारम्" एवं प्रथम सर्गमें बासन्ती रासके प्रसङ्गमें दूरसे श्रीमती राधिकाका दर्शन, दुर्जयमान् तथा २/१४ "सुखमुत्कण्ठितं गोपवधु-कथितं वितनोतु सलीलम्" इत्यादि वचनोंके द्वारा श्रीमती राधिका कृष्णकी विवाहिता पत्नी हैं, ऐसा नहीं लगता। गौड़ीय वैष्णवाचार्योंसे पूर्व किसी भी वैष्णवाचार्यने परकीया भावसे भजनका निर्देश नहीं दिया है। बहुत-से लोगोंकी श्रीजीव गोस्वामीके सम्बन्धमें ऐसी धारणा है कि वे स्वकीयाके पक्षपाती हैं, किन्तु यह आशङ्का निर्मूल है। श्रीरूप, श्रीसनातन, श्रीरघुनाथदास और श्रीकविकर्णपूर प्रभृतिने परकीया भावसे ही श्रीराधाकृष्णकी लीलाओंका वर्णन किया है। किन्तु श्रीलजीव गोस्वामीका विचार यह था कि परकीया रसका आस्वादन अथवा परकीया भावसे भजनके अधिकारी विरले ही हैं। इसलिए उन्होंने मन्त्रमयी उपासनाकी बातका श्रीकृष्णसन्दर्भ (१५३) में उल्लेख किया है। श्रीरूप और रघुनाथदास आदि गोस्वामियोंने अपने ग्रन्थोंमें स्वारसिकी उपासनाका ही वर्णन किया है—यही श्रीमन् महाप्रभुका मनोऽभीष्ट है। उन्होंने मन्त्रमयी

उपासनाका कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। श्रीबृहद्भागवतामृत १/७/८२, १५४, १५५, २/५/८४, ८५ में स्वारसिक भजन तथा परकीया भावसे भजनका उल्लेख मूलग्रन्थ और उसकी टीकाओंमें किया गया है। बृहद्भागवतामृतके उत्तरखण्डमें जिस भजनका उदाहरण दिया गया है, वह स्वारसिकी भजनका सोपान मात्र है अथच सखा या प्रियनर्म सखा भावसे भजनकी स्वारसिकी पद्धति है, वह मन्त्रमयी पद्धति नहीं है। यहाँ तक कि मन्त्रकी भी स्वारसिकी व्याख्या दी गयी है। बृहद्भागवतामृत "गोपार्भवर्गै सखिभिर्वने स गा, वंशीमुखो रक्षति वन्यभूषणः। गोपाङ्गनावर्गविलासलम्पटो, धर्मं सतां लंघयतीतरो यथा" (२/१/७७) में लिखित मन्त्रमयी उपासनामें श्रीराधाकृष्णकी एकत्रस्थितिका वर्णन है, इसलिए यहाँ परकीया भावकी परिपाटी होनेकी सम्भावना नहीं है।

श्रीउज्ज्वलनीलमणिकी टीकामें श्रीलजीव गोस्वामी तथा श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरजीने स्वकीया और परकीयाके सम्बन्धमें जो विस्तृत विचार प्रस्तुत किये हैं, वे दोनों ही प्रकारके सिद्धान्त अपने-अपने स्थानपर उचित हैं। केवलमात्र दृष्टिभङ्गीका भेद है। श्रीलजीव गोस्वामीने तत्त्वकी ओर दृष्टि रखकर स्वकीयाके पक्षमें कहा है तथा श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने लीलाकी ओर दृष्टि रखकर परकीया भावका समर्थन किया है। जैसे माया-राज्यमें अनन्त ब्रह्माण्ड हैं, परव्योममें अनन्त वैकुण्ठ हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्णलोकमें—गोलोक व्रजमें अनन्त प्रकोष्ठ हो सकते हैं, इस विषयका कहीं उल्लेख

नहीं होनेपर भी गोस्वामी ग्रन्थोंमें सङ्केत अवश्य मिलता है। प्रकाश भेदसे अभिमानमें भी भेद अवश्यम्भावी है। एक प्रकाशमें मिलन, एक प्रकाशमें विरह, मिलन प्रकाशमें मिलनानन्द एवं विरहप्रकाशमें विरहवेदनाकी अनुभूति अस्वीकार नहीं है। श्रीलजीव गोस्वामीने गोपालचम्पूमें (पूर्व १/२२) गोलोकके बहुविध प्रकाशोंमेंसे प्रकट और अप्रकट प्रकाशमय लीलाओंका वर्णन किया है। मादनाख्य महाभावके विलास रूपमें जैसे अनन्त प्रकारकी लीलाएँ रह सकती हैं, उसी प्रकार अलग–अलग प्रकोष्ठोंमें नित्य–स्वकीया और नित्य–परकीया तथा अविविक्त–स्वकीया–परकीया होनेमें कोई भी बाधा नहीं है। किन्तु तटस्थ होकर विचार करनेपर परकीयाका उत्कर्ष अवश्य ही स्वीकार करना होगा।

स्वकीया–परकीयाके सम्बन्धमें—'श्रील भक्तिविनोद ठाकुर'

श्रीलभक्तिविनोद ठाकुरजीने बह्मसंहिताके "आनन्द–चिन्मयरसप्रतिभाविताभि" (ब्रह्म संहिता ३७) श्लोककी टीकामें इस विषयपर बहुत ही सुन्दर एक विवेचन प्रस्तुत किया है। इसे साधकोंकी अवगतिके लिए यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

अस्मदीय आचार्यचरण श्रीलजीव गोस्वामीने इस श्लोककी टीका, उज्ज्वलनीलमणिकी टीका तथा कृष्णसन्दर्भ आदिमें श्रीकृष्णकी प्रकटलीलाको योगमाया द्वारा रचित बतलाया है। उन्होंने कहा है—"मायिक धर्मके सम्बन्धसे

स्पर्श होनेके कारण उसमें माया-प्रत्यायित कुछ कार्य दीख पड़ते हैं, जो स्वरूपतत्त्वमें नहीं रह सकते। जैसे—असुर-संहार, परदार संग्रह और जन्मादि। गोपियाँ कृष्णकी स्वरूपशक्तिगत तत्त्व हैं, इसलिए वे कृष्णकी स्वकीया हैं। उनमें परदारत्व सम्भव नहीं है। फिर भी प्रकटलीलामें गोपियोंका जो परदारत्व देखा जाता है, वह केवल मायिक-प्रत्यय (विश्वास) है। श्रीलजीव गोस्वामीके इस कथनका एक गूढ़ार्थ है, उसका प्रकाश होनेपर सब प्रकारकी शङ्काएँ अपने आप दूर हो जायेंगी। श्रीलजीव गोस्वामीपाद गौड़ीय-वैष्णवोंमें तत्त्वाचार्य हैं, वे श्रील रूपसनातन गोस्वामीके प्रधान अनुगताचार्य हैं, इसके अतिरिक्त वे कृष्णलीलामें मञ्जरी भी हैं, इसलिए ऐसा कोई भी गूढ़ तत्त्व नहीं है, जिसे वे न जानते हों। कुछ लोग उनके गूढ़ अभिप्रायको न समझकर उनके कथनोंका स्वकपोल कल्पित अर्थ कर उसके पक्ष और विपक्षमें तर्क उपस्थित करते हैं। श्रीरूपसनातनके मतानुसार प्रकटलीला और अप्रकटलीलामें कोई भेद नहीं है—दोनों अभिन्न हैं। एक प्रपञ्चातीत प्रकाश है और दूसरा प्रपञ्चस्थित प्रकाश है—केवल यही भेद है। प्रपञ्चातीत प्रकाशमें द्रष्ट-दृष्टगत सम्पूर्ण विशुद्धता है। बड़े सौभाग्यसे श्रीकृष्णकी कृपा होनेपर जो लोग प्रपञ्च सम्बन्ध सम्पूर्ण रूपसे छोड़कर चित्-जगत्में प्रविष्ट होते हैं और यदि उनमें साधनकालीन रसवैचित्र्यकी आस्वादन सिद्धि रहती है, तभी वे गोलोककी सम्पूर्ण विशुद्ध लीलाका दर्शन और आस्वादन कर सकते हैं। ऐसे पात्र सुदुर्लभ होते हैं।

दूसरी ओर प्रपञ्चमें रहकर भी जिन्होंने भक्तिकी सिद्धि लाभकर कृष्णकी कृपासे चित्-रसकी अनुभूति प्राप्त की है, वे भौमगोकुलकी लीलामें गोलोक लीलाका दर्शन करते हैं। इन दोनों प्रकारके अधिकारियोंमें भी कुछ तारतम्य है, वस्तुसिद्धि नहीं होने तक उस गोलोक लीलाके दर्शनमें कुछ-कुछ मायिक प्रतिबन्ध रहते हैं। दूसरी ओर स्वरूपसिद्धिके तारतम्यसे स्वरूपदर्शनका तारतम्य होता है। इस स्वरूपदर्शनके तारतम्यानुसार भक्तोंके गोलोक दर्शनका तारतम्य भी अवश्य स्वीकार करना होगा। नितान्त मायाबद्ध व्यक्ति भक्तिचक्षुरहित होता है। उनमेंसे कोई-कोई केवल मायाकी विचित्रतामें आबद्ध होते हैं, और कोई-कोई भगवद्बहिर्मुख-निर्विशेष-ज्ञानका आश्रय लेकर अपने चरमविनाशके पथपर अग्रसर होते हैं। वे लोग भगवान्की प्रकटलीलाको देखकर भी अप्रकटलीलासे सम्बन्धरहित उसे केवल जड़ीय व्यवहारमात्रके रूपमें ही देखते हैं। इसलिए अधिकारी भेदसे गोलोक दर्शनकी गति ही ऐसी है।

इसमें सूक्ष्म विचार यह है कि जैसे गोलोक मायातीत सम्पूर्ण शुद्ध तत्त्व है, उसी प्रकार भौमगोकुल भी शुद्ध और सर्वथा मलशून्य होनेपर भी योगमायारूप चित्-शक्ति द्वारा जड़जगत्में प्रकटित है। प्रकट और अप्रकट विषयमें तनिक भी मायिक दोष, हेयता और असम्पूर्णता नहीं हैं। केवल देखनेवाले जीवोंके अधिकारोंके अनुरूप ही कुछ-कुछ पार्थक्य प्रतीत होता है। दोष (मल), हेयत्व, उपाधि, माया, अविद्या, अशुद्धता, फल्गुत्व,

तुच्छत्व और स्थूलत्व, देखनेवाले जीवके जड़भावित चक्षु, बुद्धि और अहङ्कारनिष्ठ है। ये सब दृश्यवस्तुनिष्ठ नहीं है। जो जितने ही अधिक दोषरहित हैं, वे उतना ही अधिक विशुद्ध तत्त्वदर्शनमें समर्थ होते हैं। शास्त्रोंमें जो तत्त्व प्रकाशित हुआ है, किन्तु उन तत्त्वोंकी आलोचना करनेवाले व्यक्तियोंके अधिकारके तारतम्यसे तत्त्व मलयुक्त या मलरहित अनुभूत होते हैं। श्रीरूपसनातनके विचारसे भौम-गोकुलमें जितनी प्रकारकी लीलाएँ प्रकटित हुई हैं वे समस्त लीलाएँ मायागन्धरहित विशुद्ध रूपमें गोलोकमें अवस्थित हैं। इसलिए परकीया भाव भी किसी-न-किसी प्रकार अचिन्त्य शुद्ध भावसे गोलोकमें अवश्य ही वर्त्तमान है। योगमाया द्वारा कृत समस्त प्रकाश ही शुद्ध है। परदारा-भाव (परकीया भाव) योगमाया कृत है। इसलिए वह शुद्धतत्त्वमूलक है। किन्तु वह शुद्धतत्त्व क्या है?—इसपर कुछ विचार करनेकी आवश्यकता है। श्रीरूप गोस्वामीने लिखा है—

'पूर्वोक्त-धीरोदत्तादि चतुर्भेदस्य तस्य तु।
पतिश्चोपपतिश्चेति प्रभेदाविह विश्रुतौ।
तत्र पतिः स कन्यायाः यः पाणिग्राहको भवेत्॥

रागेणोल्लंघयन् धर्मं परकीया-बलार्थिना।
तदीय-प्रेम-सर्वस्वं बूधैरूपपतिः स्मृतः॥

लघुत्वमत्र यत् प्रोक्तं तत्तु प्राकृत-नायके।
न कृष्णे रसनिर्यास-स्वादार्थमवतारिणि॥'

तत्र नायिकाभेद विचारः—

"नासौ नाट्येरसे मुख्ये यत् परोढ़ा निगद्यते।
तत्तु स्यात् प्राकृत-क्षुद्रनायिकाद्यनुसारतः॥"

इन श्लोकोंमें श्रीलजीव गोस्वामीने सुगम्भीर विचार कर परकीया भावको योगमायाकृत जन्मादि लीलाकी भाँति विभ्रम-विलासके रूपमें प्रतिष्ठित किया है। "तथापि पतिः पुरवनितानां द्वितीयो व्रजवनितानां"—अर्थात् द्वारकामें पतिभाव है, तथा व्रजसुन्दरियोंमें परकीया भाव है, ऐसा माना है। श्रीलरूपसनातन गोस्वामीके सिद्धान्तानुसार भी योगमायाकृत विभ्रम-विलास स्वीकृत हुआ है। तथापि श्रीलजीव गोस्वामीने जब गोलोक और गोकुलके एकत्वका प्रतिपादन किया है, तब गोकुलमें सभी लीलाओंका मूलतत्त्व, इसे अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा। जो विवाहकी विधियोंके अनुसार कन्याका पाणिग्रहण करते हैं, वे पति कहलाते है। जो अनुरागके वशीभूत होकर परकीया-रमणीको प्राप्त करनेके लिए धर्मका उल्लंघन करते हैं, वे उपपति कहलाते हैं। गोलोकमें विवाहविधि-बन्धनरूप धर्म ही नहीं है, इसलिए वहाँ उक्त लक्षणयुक्त पतित्व भी सम्भव नहीं है। साथ ही वैसी-वैसी स्वीय स्वरूपाश्रिता गोपियोंका अन्यत्र विवाह न होनेके कारण उनका परदारत्व भी नहीं है। वहाँ स्वकीया और परकीया—इन दोनों प्रकारके भावोंकी पृथक्-पृथक् स्थिति भी सम्भव नहीं है। प्रकटलीलामें (प्रापञ्चिक जगत्में) विवाहविधिबन्धनरूप एक धर्म है, कृष्ण उस धर्मसे सर्वथा

अतीत है। इसलिए माधुर्य मण्डलरूप धर्म योगमाया द्वारा संगठित होता है। कृष्ण उस धर्मका उल्लंघनकर परकीया रसका आस्वादन करते हैं। योगमाया द्वारा प्रकटित यह धर्म उल्लंघन लीला प्रपञ्चमें ही प्रपञ्च द्वारा आच्छादित नेत्रोंसे दीख पड़ती है। वास्तवमें श्रीकृष्णलीलामें वैसा लघुत्व नहीं है।

परकीया रस ही समस्त रसोंका सार है। गोलोकमें उसका अभाव है—ऐसा कहकर गोलोकको तुच्छ मानना होगा। परमुपादेय गोलोकमें परमुपादेय रसास्वादन नहीं है, ऐसा कदापि सम्भव नहीं है। सर्वावतारी कृष्ण उसे किसी रूपसे गोलोकमें और किसी आकारसे गोकुलमें आस्वादन करते हैं। इसलिए परकीया रूप धर्मलंघन प्रतीति मायिक जड़नेत्रों द्वारा प्रतीत होनेपर भी किसी-न-किसी रूपमें उसकी सत्यता गोलोकमें भी है। "आत्मारामोऽप्यरीरमत्" (श्रीमद्भा॰ १०/२९/४२) आत्माराम होनेपर भी रमण किया, "आत्मन्यवरूद्धसौरतः" (श्रीमद्भा॰ १०/३३/२६)—सत्यकाम श्रीकृष्णने सुरत-सम्बन्धी हाव-भावोंको अपने हृदयमें स्थापनपूर्वक "रेमे व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिविम्बविभ्रमः" (श्रीमद्भा॰ १०/३३/१७)—जैसे नन्हा-सा शिशु निर्विकार होकर अपनी परछाईके साथ खेलता है, वैसे ही रमा-रमण भगवान् श्रीकृष्णने व्रजसुन्दरियोंके साथ क्रीड़ा-विहार किया—इत्यादि शास्त्र-वचनोंके द्वारा यह प्रतीत होता है कि आत्मरामता ही श्रीकृष्णका अपना स्वरूपधर्म है। श्रीकृष्ण ऐश्वर्यपूर्ण चित्-जगत्में अपनी आत्मशक्तिको प्रकटकर स्वकीया भावसे रमण करते हैं।

वहाँ स्वकीया बुद्धि प्रबल रहनेके कारण दास्य रस तक ही रसकी गति होती है, किन्तु गोलोकमें करोड़ों-करोड़ों गोपियोंके रूपमें प्रकटकर स्वकीया भावको भूलकर उनके साथमें नित्य रमण करते हैं। स्वकीया अभिमानमें रसकी अत्यन्त दुर्लभता नहीं रहती। इसलिए अनादि कालसे गोपियोंमें स्वाभाविक रूपसे परोढ़ाका अभिमान प्रबल रहता है। और श्रीकृष्ण उस अभिमानके अनुरूप अपने अन्दर उपपतिका अभिमान अङ्गीकार कर वंशीरूप प्रियसखीकी सहायतासे रासादि लीलाओंको सम्पन्न करते हैं।

गोलोक नित्यसिद्ध एवं मायिक प्रत्ययसे सर्वथा अतीत एक रसपीठ है। इसलिए वहाँ उस अभिमानसे ही रस-प्रवाह सिद्ध होता है। वात्सल्यरस भी वैकुण्ठमें नहीं है, ऐश्वर्यकी ऐसी गति है, किन्तु परम माधुर्यमय गोलोकमें (स्थित व्रजमें) इस रसके मूल-अभिमानके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वहाँ नन्द-यशोदा प्रत्यक्ष हैं, किन्तु जन्म व्यापार वहाँ नहीं है। जन्मके अभावमें नन्द-यशोदाका जो पितृ-मातृत्व आदि अभिमान है, वह वस्तुतः नहीं है, परन्तु अभिमानमात्र है। जैसे—"जयति जननिवासो देवकीजन्मवादः" इत्यादि रस-सिद्धिके लिए यह अभिमान नित्य है। इसी प्रकार शृङ्गाररसमें भी परोढ़ा और उपपति अभिमानमात्र नित्य होनेसे कोई दोषकी बात नहीं होती अथवा वह शास्त्रके विरुद्ध भी नहीं है। व्रजमें जब गोलोक तत्त्व प्रकट होते हैं, उस समय प्रापञ्चिक जगत्में प्रपञ्चमय दृष्टिसे उक्त दोनों अभिमान कुछ स्थूल

दिखलायी पड़ते हैं। केवलमात्र यही भेद है। वात्सल्यरसमें नन्द-यशोदाका पितृत्व और मातृत्व अभिमान कुछ स्थूल आकारमें जन्मादि लीलाके रूपमें प्रतीत होता है तथा शृङ्गाररसमें गोपीगत परोढ़ा अभिमान स्थूल रूपमें अभिमन्यु-गोवर्धन आदिके साथ विवाहके रूपमें प्रतीत होता है। वास्तवमें वस्तुतः गोपियोंका पृथक् सत्तागत पतित्व न तो गोलोकमें है और न गोकुलमें। इसलिए शास्त्रमें ऐसा कहा गया है "न जातु व्रजदेवीनां पतिभिः सह संगमः" अर्थात् व्रजदेवियोंका अपने पतियोंके साथ कभी संगम नहीं हुआ। इसलिए रस-तत्त्वाचार्य श्रीरूपगोस्वामीने लिखा है कि उज्ज्वलरसमें नायक दो प्रकारके होते हैं। जैसे—"पतिश्चोपपतिश्चेति प्रभेदाविह विश्रुतौ" अर्थात् पति और उपपति भेदसे नायक दो प्रकारके होते हैं। श्रीलजीव गोस्वामीने इसकी टीकामें लिखा है—"पतिः पुरवनितानां द्वितीयो व्रजवनितानां" अर्थात् द्वारकापुरीकी वनिताओंके नायक पति होते हैं और व्रजमें नायक श्रीकृष्ण व्रजवनिताओंके उपपति होते हैं। अपनी टीकाके इन वचनोंसे ही श्रीलजीव गोस्वामीने वैकुण्ठ और द्वारकामें कृष्णका पतित्व तथा गोलोक-गोकुलमें नित्य उपपतित्व स्वीकार किया है। गोलोक तथा गोकुल नाथमें उपपतिके लक्षण सम्पूर्ण रूपमें देखे जाते हैं। श्रीकृष्ण द्वारा अपनी आत्मारामता रूपधर्मका उल्लंघन होता है। उसमें परोढ़ा मिलनके लिए राग ही उस धर्मलंघनका हेतु है। गोपियोंका नित्य परोढ़ा अभिमान ही वह परोढ़त्व है। वस्तुतः उनका पृथक् सत्तायुक्त पति न रहनेपर भी

केवल अभिमान ही वहाँपर उनका परकीया-रमणीभाव सम्पादन करता है। इसलिए "रागेणोल्लंघयन् धर्मम्" इत्यादि सभी लक्षण माधुर्यपीठमें नित्य वर्त्तमान रहते हैं। भौमव्रजमें वही भाव कुछ अंशोंमें प्रापञ्चिक चक्षुविशिष्ट-व्यक्तियोंके द्वारा स्थूलरूपमें लक्षित होता है। इसलिए गोलोकमें स्वकीया और परकीया रसका अचिन्त्य भेद और अभेद है। भेद नहीं है, ऐसा भी कहा जा सकता है तथा अभेद नहीं है, ऐसा भी कहा जा सकता है। परकीय सार जो स्वकीय निवृत्ति अर्थात् विवाहविधिरहित-रमण एवं स्वकीय-सार जो परकीय निवृत्तिरूप स्वरूपशक्तिरमण है—ये दोनों एक रस होकर भी उभय वैचित्र्यके आधारके रूपमें नित्य विराजमान हैं। गोकुलमें उसी रूपमें रहनेपर भी केवल प्रपञ्चके दर्शकोंकी दृष्टिमें दूसरे प्रकारसे दीखता है।

गोलोकवीर श्रीगोविन्दमें धर्माधर्मशून्य पतित्व और उपपतित्व निर्मल रूपमें विराजमान है। गोकुलवीरमें वैसा रहनेपर भी योगमायाके द्वारा प्रतीति वैचित्र्य हुआ करता है। यदि ऐसा कहा जाय कि योगमाया जो कुछ प्रकाश करती है वह परम सत्य होता है, इसलिए परकीया भाव भी वैसे ही परम सत्य है। इस शङ्काको दूर करनेके लिए कहते हैं कि रसास्वादनमें जैसे अभिमानकी प्रतीति रह सकती है और उसमें कोई भी दोष नहीं है, क्योंकि वह निराधार नहीं है, किन्तु जड़बुद्धिमें जो हेय-प्रतीति होती है, वही दोषयुक्त है। वह हेय-प्रतीति शुद्ध जगत्में नहीं है।

वास्तवमें श्रीलजीव गोस्वामीने यथायथ सिद्धान्त ही किये हैं और प्रतिपक्षका सिद्धान्त भी अचिन्त्यरूपसे सत्य है। केवल स्वकीयावाद और परकीयावादको लेकर वृथा विवाद करना ही मिथ्या और वागाडम्बरपूर्ण है। जो लोग निरपेक्ष होकर श्रीलजीव गोस्वामी एवं प्रतिपक्षकी टीकाओंको अच्छी तरहसे अनुशीलन करेंगे, उनके हृदयमें किसी भी प्रकारकी शङ्का उठनेकी सम्भावना नहीं है। शुद्ध वैष्णव जो कुछ कहते हैं, वह सब सत्य होता है। उसमें पक्ष और प्रतिपक्ष नहीं होता। उनके वाक्य-कलहमें कुछ रहस्य होता है। जड़बुद्धिसम्पन्न लोग शुद्धवैष्णवताके अभावमें शुद्धवैष्णवोंके प्रेम कलहका रहस्य न समझ पानेके कारण उनमें पक्ष-विपक्षका केवल आरोप करते हैं। "गोपीनां तत्पतीनाञ्च"—इस रासपञ्चाध्यायीके श्लोककी वैष्णवतोषणी टीकामें जो विचार दिया है, भक्त श्रीलचक्रवर्तीपादने उसे बिना किसी आपत्तिके अपने मस्तकपर धारण किया है।

गोलोकादि चिद्विलासके सम्बन्धमें कोई भी विचार करते समय श्रीमन् महाप्रभु और उनके अनुगत श्रीगोस्वामियोंके द्वारा दिये गये एक उपदेशकी बात स्मरण रखना उचित है। वह यह कि भगवत्-तत्त्व कभी भी निर्विशेष नहीं है, वह जड़ातीत नाना प्रकारकी विशेषताओं और विलासोंसे भरपूर है। भगवत्-रस-विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारी इन चार प्रकारकी चिन्मय विचित्रतापूर्ण सामग्रियों द्वारा परमास्वादनीय सुन्दर रूपमें गोलोक और वैकुण्ठमें नित्य विद्यमान रहता है।

गोलोकका वह रस योगमायाके प्रभावसे भक्तोंके कल्याणके लिए जगतीतलमें प्रकटित होकर व्रजरसके रूपमें प्रतीत होता है। इस गोकुल रसमें जो कुछ देखा जाता है, वह सबकुछ गोलोकरसमें विशद् रूपसे प्रतीत होना आवश्यक है। इसलिए नागर-नागरियोंका विचित्र-भेद और उसमें रस-विचित्रता, भूमि-नदी-पर्वत-गृह-द्वार-कुञ्ज और गाय प्रभृति समस्त गोकुलोपकरण ही यथायथ समाहित रूपमें गोलोकमें अवस्थित है। केवल जड़बुद्धिविशिष्ट व्यक्तियोंकी उनके सम्बन्धमें जो जड़-प्रतीति रहती है, वह गोलोकमें नहीं है। विचित्र व्रजलीलामें अधिकार भेदसे गोलोककी पृथक्-पृथक् स्फूर्तियाँ होती है। उन विविध स्फूर्तियोंके कौन-कौनसे अंश मायिक और कौन-कौनसे अंश शुद्ध हैं—इस विषयमें एक स्थिर सिद्धान्त होना कठिन है। भक्तिचक्षु प्रेमाञ्जनके द्वारा जितने ही शोधित होंगे, हृदयमें क्रमशः विशद् स्फूर्ति उदित होगी। इसलिए इस विषयमें तर्कवितर्ककी कोई आवश्यकता नहीं है। तर्कवितर्कसे अधिकार उन्नत नहीं होता। गोलोक तत्त्व-अचिन्त्य भावमय है। ऐसे अचिन्त्य भावको चिन्ता द्वारा अनुसन्धान करनेसे भूसा कूटनेके समान व्यर्थ परिश्रमकी भाँति निष्फल चेष्टा होगी। अतः ज्ञानचेष्टासे उपरत रहकर, भक्तिचेष्टाके द्वारा अनुभूति लाभ करना ही कत्तर्व्य है। जिस विषयको ग्रहण करनेसे अन्तमें निर्विशेष प्रतीतिका उदय होता है, भक्तिमार्गमें उसका परित्याग करना अत्यन्त आवश्यक है। मायिक-प्रतीति-शून्य शुद्ध पारकीय रस अतीव दुर्लभ है। गोलोक लीलामें उसका वर्णन है,

उसीका अवलम्बन कर रागानुगा भक्त साधन करेंगे। ऐसा करनेसे सिद्धि होनेपर अधिकतर उपादेय मूलतत्त्वको प्राप्त हो सकेंगे। जड़बुद्धिसम्पन्न व्यक्तियोंकी पारकीय चेष्टामयी भक्ति बहुधा जड़गत विधर्मके रूपमें बदल जाती है। ऐसा लक्ष्य करके ही हमारे तत्त्वाचार्य श्रीलजीव गोस्वामीपादने उत्कण्ठित होकर जिन विचारोंका उल्लेख किया है, उसका सार ग्रहण करना ही शुद्धवैष्णवता है। आचार्यकी अवज्ञा करते हुए मतान्तर स्थापनका प्रयत्न करनेसे अपराध होता है।

इति महामहोपाध्याय श्रीमद्विश्वनाथ चक्रवर्ती महोदय
द्वारा विरचित् श्रीरागवर्त्म-चन्द्रिकाकी
चन्द्रिका-चकोर-वृत्ति
॥ समाप्त ॥

श्रीअनुरागवल्ली

देहार्बुदानि भगवन्! युगपत् प्रयच्छ
वक्त्रार्बुदानि च पुनः प्रतिदेहमेव।
जिह्वार्बुदानि कृपया प्रतिवक्त्रमेव
नृत्यन्तु तेषु तव नाथ! गुणार्बुदानि॥ १॥

हे भगवन्! आप कृपा कर मुझे करोड़ों-करोड़ों शरीर प्रदान करें, फिर उनमेंसे प्रत्येक शरीरमें करोड़ों-करोड़ों मुख प्रदान करें और उनमेंसे प्रत्येक मुखमें करोड़ों रसनाएँ प्रदान करें। हे प्रभो! उनमेंसे प्रत्येक रसनाके ऊपर तुम्हारी करोड़ों-करोड़ों गुणराशि सर्वदा नृत्य करती रहें॥ १॥

किमात्मना? यत्र न देहकोट्यो
देहेन किं? यत्र न वक्त्रकोट्यः।
वक्त्रेण किं? यत्र न कोटिजिह्वाः
किं जिह्वया? यत्र न नामकोट्यः॥ २॥

हे प्रभो! उस आत्मासे क्या प्रयोजन है, यदि उसके करोड़ों-करोड़ों शरीर न हों, उस शरीरकी कोई आवश्यकता नहीं है, जिसमें करोड़ों-करोड़ों मुख न हों, उस मुखकी भी आवश्यकता नहीं, जिसमें करोड़ों-करोड़ों रसनाएँ न हों और उस रसनासे ही क्या प्रयोजन जिसपर आपके "हरे कृष्ण" आदि करोड़ों-करोड़ों नाम नृत्य न करें। इसलिए मेरी यह प्रार्थना है कि करोड़ों-करोड़ों देहोंमें करोड़ों-करोड़ों मुख और करोड़ों मुखोंमें करोड़ों रसना

तथा करोड़ों रसनाओं द्वारा मैं आपके करोड़ों-करोड़ों नामोंका कीर्त्तन करता रहूँ॥ २॥

आत्मास्तु नित्यं शतदेहवर्ती
देहस्तु नाथास्तु सहस्रवक्त्रः।
वक्त्रं सदा राजतु लक्षजिह्वं
गृह्णातु जिह्वा तव नामकोटिम्॥ ३॥

हे नाथ! मेरी प्रार्थना है कि मेरी आत्मा सैंकड़ों शरीरोंमें सर्वदा विद्यमान रहे। एक-एक शरीरमें हजारों मुख रहें, उन मुखोंमें लाखों रसनाएँ हों और उन रसनाओंपर करोड़ों-करोड़ों आपके नाम नृत्य करते रहें॥ ३॥

यदा यदा माधव! यत्र यत्र
गायन्ति ये ये तव नामलीलाः।
तत्रैव कर्णायुत-धार्यमाणा-
स्तास्ते सुधा नित्यमहं धयानि॥ ४॥

हे माधव! मेरी यह विशेष प्रार्थना है कि जो-जो भक्त जिस-जिस समयमें आपके श्रीविग्रहके सम्मुख अथवा जिस किसी स्थानमें अवस्थित होकर आपके नाम, रूप, गुण और लीलाओंका कीर्त्तन करें, उन-उन स्थानोंमें मैं हजारों कर्णोंसे उस लीलामृतका निरन्तर पान कर सकूँ॥ ४॥

कर्णायुतस्यैव भवन्तु लक्ष-
कोट्यो रसज्ञा भगवंस्तदैव।

येनैव लीलाः शृणवानि नित्यं
तेनैव गायानि ततः सुखं मे॥५॥

हे प्रभो! जिस समय मैं हजारों कर्णोंसे तुम्हारे नाम, रूप, गुण और लीला रूप सुधाका पान करता रहूँ, उसी समय हजारों कर्णोंमें लाखों-करोड़ों रसनाएँ होवें, जिनसे मैं उन लाखों-करोड़ों रसनाओंके द्वारा उन श्रुत नाम, रूप, गुण और लीलाओंका सदा-सर्वदा कीर्त्तन कर आनन्दमें मग्न होता रहूँ॥५॥

कर्णायुतस्येक्षण-कोटिरस्या
हृत्कोटिरस्या रसनार्बुदं स्तात्।
श्रुत्वैव दृष्ट्वा तव रूपसिन्धु-
मार्लिंग्य माधुर्यमहो! धयानि॥६॥

हे प्रभो! मेरे सहस्रों कर्णोंमेंसे प्रत्येक कर्णके करोड़ों नयन हों, उन करोड़ों नयनोंके करोड़ों हृदय हों और उन करोड़ों हृदयोंकी अरबों-खरबों रसनाएँ हों। उन सहस्रों कर्णोंसे आपके रूपसागरकी महिमाका श्रवण करता रहूँ, करोड़ों नेत्रोंसे उसीका दर्शन करता रहूँ, करोड़ों हृदयोंमें उसीका आलिङ्गन करता रहूँ तथा अरबों-खरबों रसनाओंके द्वारा उसी रूपसुधाका निरन्तर पान करता रहूँ॥६॥

नेत्रार्बुदस्यैव भवन्तु कर्ण-
नासा-रसज्ञा हृदयार्बुदं वा।
सौन्दर्य-सौस्वर्य-सुगन्धपूर-
माधुर्य-संश्लेष-रमानुभूत्यै ॥७॥

हे प्रभो! आपके रूप-सौन्दर्य सुधाका पान करनेके लिए मेरे करोड़ों नेत्र, आपकी सुमधुर कण्ठध्वनिका श्रवण करनेके लिए करोड़ों कर्ण, आपके श्रीविग्रहका सौरभ आघ्राण करनेके लिए करोड़ों नासिकाएँ, माधुर्य रसानुभूतिके लिए करोड़ों रसनाएँ और आपके आलिङ्गन रसकी उपलब्धिके लिए मेरे करोड़ों हृदय होवें॥ ७॥

त्वत्पार्श्वगत्यै पदकोटिरस्तु
सेवां विधातुं मम हस्तकोटिः।
तां शिक्षितुं स्तादपि बुद्धिकोटि-
रेतान् बरान्मे भगवन्! प्रयच्छ॥ ८॥

हे भगवन्। आप कृपा कर मुझे यह वर प्रदान करें कि तुम्हारे समीप गमन करनेके लिए मेरे करोड़ों पैर हों, आपकी परिचर्याके लिए मेरे करोड़ों हाथ हों और आपकी सेवाकी शिक्षा ग्रहण करनेके लिए करोड़ों बुद्धि-वृत्तियाँ हों॥ ८॥

इति श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिठाकुरविरचित-स्तवामृतलहर्यां श्रीअनुरागवल्ली सम्पूर्णा।